प्रकाशक-

मुद्रकः—
वैदिक यंत्रालय,
अजमेर.

ओ३म्

वैदिक जीवन

इस पुस्तक में स्तुतिप्रार्थनोपासना, वैयक्तिक जीवन की उच्चता, कर्मयोग, ब्रह्मचर्याश्रम, गृहस्थाश्रम और गृहस्थ व्यवहार, पारिवारिक व्यवहार, दानभाव, अतिथियज्ञ, राष्ट्रीय जीवन और अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्वप्रेम के भाव आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है।

लेखक

विश्वनाथ विद्यालङ्कार

पूर्व प्रोफ़ेसर विज्ञान, दर्शनशास्त्र

वैदिक साहित्य, गुरुकुल काङ्गड़ी

प्रकाशक

चौ० श्रीचन्द्र, मैनेजर

महेशबुकडिपो, घसेटीबाजार, अजमेर

द्वितीयवार १५०० | सन् १९२५ | मूल्य ।।।) आने

मुद्रक:—
वैदिक यन्त्रालय,
अजमेर.

भूमिका

वर्तमान पुस्तक "वैदिक जीवन" अथर्ववेद के मंत्रों के आधार पर लिखी गई है। जीवन के मुख्य २ भागों पर इस पुस्तक में कुछ प्रकाश डालने की कोशिश की गई है। इस लघु पुस्तक के पढ़ने से पाठकों के चित्तों में वेद के सम्बन्ध में अधिक गौरव हो सकेगा। वैदिक मंत्र कितने भावपूर्ण हैं, उनके प्रत्येक शब्द कितने सार्थक हैं--इसका भी परिचय महानुभाव पाठकों को इस पुस्तक के अध्ययन से हो सकेगा।

इस पुस्तक में जो वर्णनीय विपय चुने गये हैं तत्सम्बन्धी वहुत मंत्र वेदों में हैं, परन्तु इस पुस्तक में उन २ विपयों के थोड़े २ मंत्र ही दिये गये हैं। इन तथा ऐसे ही अन्य भी वैदिक विपयों पर क्रमशः वृहदाकार पुस्तकें प्रकाशित करने की हमारी इच्छा है। यदि पाठक महोदयों ने ऐसे विपयों पर स्वाध्याय की रुचि दिखलाई तो अन्य पुस्तकें भी शीघ्र ही प्रकाशित का जायंगी। आशा है कि उदार पाठक पुस्तक की त्रुटियों पर विशेप ध्यान न देंगे, क्योंकि यह पुस्तक वहुत ही थोड़े समय में छापी गई है। इस पुस्तक का सर्वाधिकार महेश पुस्तकालय को सहर्प समर्पित है। कोई महाशय बिना प्रकाशक की आज्ञा के छपाने का साहस न करें।

निवेदक—

विश्वनाथ

ओ३म्

कृतज्ञता-प्रकाश

सुविज्ञ महानुभाव !

"वैदिक जीवन" का द्वितीय संस्करण आप की सेवा में उपस्थित है। आशा ही नहीं किन्तु विश्वास है कि आप पूर्ववत् ही इसका समादर करते हुए हमें उत्साहित करेंगे ताकि हम भविष्य में शीघ्र ही ऐसे ही और भी उपहार लेकर सेवा में उपस्थित होसकें।

विनयी—

श्रीचन्द्र चौधरी,

समर्पण

जिन्हों ने वैदिक धर्म की सेवा करते हुए
भयङ्कर आर्थिक कष्ट सहे और जिन्होंने ६५ वर्ष के देह-
वार्धक्य में भी, सन् १९१९ ई० में, वज़ीराबाद में,
रौलट ऐक्ट के विरुद्ध आन्दोलन कर,
फ़ौजी कानून का शिकार बनना
सहर्ष स्वीकार किया,
और जिन्होंने २९ दिसम्बर १९२१ ई० में
परलोक गमन किया,
उन्हीं
पूज्य पिता श्री प्रीतमदासजी आर्य्य
के
पवित्र चरणों में
यह क्षुद्र पुस्तक सादर
समर्पित
है।

विनीत—विश्वनाथ

विषय-सूची

पहला प्रकरण

स्तुतिप्रार्थनोपासना १-१६

दूसरा प्रकरण

वैयक्तिक जीवन की उच्चता १७-९४

तीसरा प्रकरण

कर्मयोग, पृ० ९५—११९

चतुर्थ प्रकरण

ब्रह्मचर्याश्रम, पृ० १२१—१३३

पांचवां प्रकरण

गृहस्थाश्रम और गृहस्थ व्यवहार, पृ० १३५—१४४

छठा प्रकरण

पारिवारिक व्यवहार, पृ० १४५-१६६

सातवां प्रकरण

दानभाव, १६७—१७१

आठवां प्रकरण

अतिथि यज्ञ, १७२-१८८

नवमा प्रकरण

राष्ट्रीय जीवन, १८९–२१७

दशवां प्रकरण

अन्तर्राष्ट्रीय तथा विश्वप्रेम के भाव, २१८—२१९

वैदिक जीवन

पहला प्रकरण

स्तुतिप्रार्थनोपासना

आस्तिक्यबुद्धि

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥

ऋग्वेद ८।२०।४॥

(श्रुत *) हे श्रवणशक्ति वाले ! (श्रुधि) तू सुन, (श्रद्धेयम्) श्रद्धा-योग्य बात (ते) तुझे (ब्रवीमि) मैं कहता हूं, (यः) जो (विपश्यति) विविध सृष्टि को देखता है, (यः) जो (प्राणति) प्राण ले रहा है, (ईम्) और (यः) जो कोई (उक्तम्) वचन को (शृणोति) सुनता है, (सः) वह (मया) मेरे द्वारा (अन्नं) अन्न को (अत्ति) खाता है, (ते) वे प्रसिद्ध (अमन्तवः) नास्तिक लोग (माम्) मेरे (उप) आश्रय से ही (क्षियन्ति †) निवास करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थः—हम सब श्रवणशक्ति वाले हैं और शब्दों को सुनते भी हैं। सुनते हैं पर किन शब्दों को ? जो कि स्थूल रूप हैं। प्रकृति के अभिप्रायपूर्ण शब्दों को हम नहीं सुनते। उन शब्दों को सुनते हुए भी हम उनके गूढ़ भावों को, उनमें छिपे गूढ़ रहस्यों को नहीं समझते। वे शब्द एक स्वर होकर जिस शक्ति के स्तोत्रपाठ कर रहे हैं उसे हम नहीं जानते। प्रकृति जिसके गुणों पर मुग्ध हो निशिदिन क्षण २ में मधुर राग आलाप रही है उस भिनभिनाहट को तो हम सुनते हैं पर उस राग के प्रत्येक पद, अवयव का हमें बोध नहीं। इस भावपूर्ण राग के अन्तस्तत्त्व का हमें परिज्ञान नहीं। इसलिये परमात्मा इस मन्त्र द्वारा जीव को उपदेश और चेतावनी देता है।

---

* श्रुतं श्रवणन्तद् यस्यास्तीति, अर्शआद्यच्। † क्षि निवासगत्योः॥

(१) कि हे श्रवणशक्ति वाले जीव! सुन, अगर तू दिव्य शक्ति को सुन सकता है। मैं तुझे श्रद्धेय वस्तु कहता हूं।

(२) वह जो संसार के विविध पदार्थों को आंखों से देख रहा है, वह जो श्वास और प्रश्वास ले रहा है, तथा वह जो प्रकृति के ऊपर २ के शब्दों को सुन रहा है—मेरे द्वारा ही अन्न को खाता, जल पान करता, तथा अन्य क्रियाएं करता है।

(३) परन्तु वह संसार के विविध पदार्थों को देखता हुआ भी मुझे नहीं देखता, श्वास लेता हुआ भी मेरा अनुभव नहीं करता और प्राकृतिक शब्दों को सुनता हुआ भी मुझे नहीं सुनता। देख और विचार कि:—

(४) नास्तिक लोग जो मेरे अस्तित्व से भी बिलकुल इन्कार करते हैं, उनका भी मुझ आश्रय के विना निवासस्थान कोई नहीं। इसलिये सुन, अपने दिव्य श्रोत्रों को खोल, मेरे अस्तित्व को पहिचान, और समझ कि मैं ही सब संसार का आश्रय हूं, मैं ही सब संसार का सार हूं।

मन्त्र में नास्तिकों के लिये 'अमन्तु' पद आया है जिस से यह सूचित किया है कि नास्तिक लोग अमननशील हैं यदि मनन करें तो परमात्मा की सत्ता से वे इन्कार नहीं कर सकते।

परमात्मा की स्तुति कर

तमु ष्टुहि यो अन्तःसिन्धौ सूनुः । सत्यस्य युवानम-द्रोघवाचं सुशेवम् ॥ अथर्व० ६ । १ । २ ॥

(यः) जो (सिन्धौ, अन्तः) समुद्र के अन्दर है, तथा जो (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः *) प्रेरक है, (तम्) उस (उ) ही (युवानम्) बाल्य और जरा से रहित, (अद्रोघ-वाचम्) द्रोह-शून्य वाणी वाले, (सुशेवम्) तथा उत्तम-सुख-दायक परमात्मा की (स्तुहि) स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थः—स्तुति, प्रार्थना और उपासना—भक्तिमार्ग के ये तीन प्रक्रम हैं । स्तुति, प्रार्थना और उपासना में देवता एक ही होना चाहिये । एक देव की स्तुति, दूसरे से प्रार्थना और तीसरे की उपासना असम्भव है । स्तुति कैसे देव की करनी चाहिये इस सम्बन्ध में यह मन्त्र पढ़ा गया है । मन्त्र कहता है कि तू उसकी ही स्तुति कर जो ।

(१) समुद्र के अन्दर भी विराजमान है । अथर्व० ४ । ३० । ७ में परमात्मा अपने स्वरूप के वर्णन में कहता है कि "मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे" अर्थात् मेरा स्वरूप जलों और

* सूनु, पद षू=धातु से बना है जिसका अर्थ है "प्रेरणा" । अतः सूनु=प्रेरक ।

समुद्र में है। वास्तव में प्रकृति के इन रूपों में परमात्मा का शीघ्र तथा स्पष्ट भान होता है। हिमाच्छादित पर्वतों के उच्च तथा फैले हुए शिखर, बादलों के क्षणपरिवर्त्ती रूपरङ्ग तथा इन पर पड़ती हुई उदय तथा अस्त को प्राप्त होते सूर्य के किरणों की मनमोहिनी छवि, समुद्र की अगाधता तथा व्यापकता, ये सब प्राकृतिकनाटक के जलमयदृश्य, नाटककर्त्ता के स्वरूप को, स्पष्ट रूप से चित्तारूढ कर देते हैं। इसीलिये उपरोक्त मन्त्र में कहा गया है कि परमात्मा का निवास सिन्धु में है।

(१) तथा जो परमात्मा सत्य का प्रेरक है उसी की स्तुति कर। परमात्मा वेद द्वारा सत्य की प्रेरणा करता है।

(२) तथा जो तीनों कालों में युवा है। जिसे जन्म, बाल्य, जरा और मृत्यु स्पर्श नहीं करते, उसी की स्तुति कर।

(३) तथा जिसकी वाणी में द्रोह का लेश भी नहीं, उसी की स्तुति कर। परमात्मा की वाणी वेद में किसी भी जाति-विशेष के लिये द्वेष अथवा प्रेम नहीं।

(४) तथा जो अत्यन्त सुखकारी है उसी की स्तुति कर। ये गुण सिवाय परमात्म-देव के और किसी में नहीं हो सकते। अतः उसी प्रभु की स्तुति करनी चाहिये।

ब्रह्मार्चना

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत । अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ अथर्व० २० । ६२ । ५ ॥

(प्रियमेधासः) हे मेधा शक्ति के प्रेमी जनो ! (धृष्णु) धर्षक अर्थात् शक्तिशाली ब्रह्म की (पुरम्) अपने देह के (न) समान (अर्चत) अर्चना करो. (प्रार्चत) अच्छे प्रकार अर्चना करो, (अर्चत) अवश्य अर्चना करो, (उत) और (पुत्रकाः) तुम्हारे छोटे २ पुत्र भी (अर्चन्तु) इस ब्रह्म की अर्चना करें, (अर्चत) तुम सब उस ब्रह्म की अर्चना करो ॥३॥

भावार्थः—(१) मनुष्य अपने देह के साथ बहुत मुहब्बत करता है । मन्त्र में कहा है कि जिस प्रकार तुम अपने देह की अर्चना करते हो इसी प्रकार तुम ब्रह्म की भी अर्चना किया करो ।

(२) तथा तुम अपने छोटे २ बच्चों को भी इस तरह शिक्षित करो कि वे भी प्रेमपूर्वक ब्रह्म की अर्चना किया करें ।

(३) यह अर्चना तुम इकट्ठे मिलकर किया करो । इसी-लिये अर्चत में बहुवचन है । इस से पारिवारिक उपासना का प्रमाण मिलता है ।

(४) परमात्मा की ही अर्चना किया करो, अन्य किसी देवी देवता की नहीं । क्योंकि परमात्मा ही सब से अधिक धृष्णु अर्थात् शक्तिशाली है ।

परमात्मा सर्वज्ञ और कर्माध्यक्ष है

न त्वदन्यः कवितरो न मेधया धीरतरो वरुण स्वधावन् । त्वं ता विश्वा भुवनानि वेत्थ स चिन्नु त्वज्जनो मायी बिभाय ॥ अथर्व० ५ । ११ । ४ ॥

(वरुण) हे श्रेष्ठ (स्वधावन्) तथा स्वाधीन परमात्मन् ! (अन्यः) दूसरा कोई (त्वत्) तुझ से (कवितरः) अधिक कवि (न) नहीं है, और (न) न (मेधया) बुद्धि शक्ति में (धीरतरः) अधिक बुद्धिमान् है । (त्वं) तू (ता=तानि) उन (विश्वा=विश्वानि) सब (भुवनानि) भुवनों को (वेत्थ) जानता है. (सः) वह (मायी) कपटी (जनः) जन (चित्) भी (नु) अवश्य (त्वत्) तुझ से (बिभाय) भयभीत हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थः—मन्त्र में यह बताया है कि परमात्मा के न्याय-नियमों से कपटी भी भय खाता है । आस्तिक या सदाचारी लोग तो पहिले ही परमात्मा के न्याय नियमों के आगे सिर झुकाते हैं, अतः पापकर्मों से निवृत्त रहते हैं । परन्तु कपटी जन भी जब परमात्मा के यथार्थ रूप को जान लेता है तो वह भी पापकर्मों से निवृत्त हो जाता है । परमात्मा के वे कौन से गुण हैं जिन के जानने से मायी अर्थात् कपटी भी पाप कर्मों के

करने से भय करने लगता है ? वे मन्त्र में दिये हैं, जो कि निम्न-लिखित हैं:—

(१) वरुण=परमात्मा श्रेष्ठ है, वह दुष्ट कर्मों को पसन्द नहीं करता और न ही वह स्तुति की रिश्वत को पसन्द करता है।

(२) स्वधावन्=वह स्वाधीन है, पराधीन नहीं। अतः स्वतन्त्र रूप से हमारे कर्मों का फल दे सकता है। कर्मफल के देने में कोई उसकी शक्ति का प्रतिबन्ध नहीं कर सकता। अतः वह अवश्य हमें हमारे कर्मों का फल देगा।

(३) विश्वा भुवनानि वेत्थ=वह सर्वज्ञ है। हमारे विचारों तक को वह जानता है। हमारा कोई कर्म उस से छिपा हुआ नहीं रह सकता। सर्वज्ञ है, अतः न हम उसे धोखा ही दे सकते हैं, जिस से कि हम अपने किये हुए बुरे कर्मों के दण्ड से बच सकें। अतः मायी जन, परमात्मा के इन रूपों को जब जान लेता है तब उसकी माया कुण्ठित हो जाती है. उसके छल कपट के भाव शिथिल पड़ जाते हैं और वह माया को छोड़ धर्म का उपासक बन जाता है। अतः पापकर्मों, कुसंस्कारों, बुरे विचारों से छुटकारा पाने के लिये, परमात्म-देव का मनन, उस के सद्गुणों का विचार, परमात्मा की भक्ति और उपासना, उस में अचल श्रद्धा और विश्वास अवश्य होना चाहिये।

विश्वम्भर बनने की प्रार्थना

विश्वम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ अथर्व० २ । १६ । ५ ॥

(विश्वम्भर) विश्व के धारण और पोषण करने वाले प्रभो ! (विश्वेन) "मैं विश्व का (भरसा) भरण पोषण करूं" इस भाव द्वारा (मा) मेरी (पाहि) तू रक्षा कर, (स्वाहा) मैं स्व और स्वार्थ का त्याग करूं ॥ ५ ॥

भावार्थः—(१) विश्वम्भर नाम परमात्मा का है। विश्व का अर्थ है जगत् और भर का अर्थ है (क) धारण करने वाला और (ख) पोषण करने वाला। धारण का अर्थ है बनाए रखना अर्थात् नाश न होने देना। और पोषण का अर्थ है पुष्टि अर्थात् वृद्धि करना। परमात्मा सब जगत् का धारण और पोषण करता है, इसलिये वह विश्वम्भर है।

(२) मनुष्य में जब तक परमात्मा के गुण नहीं आते तब तक उस की रक्षा नहीं हो सकती। इसीलिये प्रार्थी मन्त्र में प्रार्थना करता है कि हे विश्वम्भर ! मुझे भी आप विश्वम्भर बनाइये। मुझे भी आप संसार भर के धारण और पोषण करने का भाव दीजिये और बल दीजिये कि मैं ऐसा कर सकूं।

(३) और इसके लिये स्वार्थभाव को त्याग सकूं। स्वाहा=स्व+आ+हा। "स्व" का अर्थ है आप और अपना, "आ" का अर्थ है पूर्ण रूप से और "हा" का अर्थ है त्याग। अतः स्वाहा का अर्थ है अपना और अपनी वस्तुओं का पूर्ण रूप से त्याग। परसेवा के लिये अपनी वस्तुओं और अपने आप तक का त्याग कर देना स्वाहा कहाता है। विना स्वाहा के परोपकार असम्भव है। परमात्मा विश्वम्भर है, चूंकि वह स्वाहा भाव वाला है अर्थात् स्वार्थशून्य है। अतः विश्वम्भर बनने के लिये "स्वाहा-प्रधान जीवन" होना चाहिये। अर्थात् हम तभी विश्व का भरण पोषण कर सकेंगे जब कि हम अपने स्वार्थों और सुखों को विश्व के भरण पोषण में लगा दें। इसी से हमारी भी रक्षा हो सकेगी अन्यथा नहीं।

सर्वरक्षक बनने की प्रार्थना

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ अथर्व० २।१७।७॥

(परिपाणम्) हे प्रभो ! सबकी रक्षा करनेवाला (असि) तू है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब की रक्षा करने का भाव या सामर्थ्य (दाः) दे, (स्वाहा) मैं स्व और स्वार्थ का पूर्ण त्याग करूँ ॥ ६ ॥

भावार्थः—विश्वम्भर और परित्राण का एक ही अभिप्राय है। परित्राण का अर्थ है सब की रक्षा करने वाला। विश्वम्भर का भी यही अर्थ है। इसलिये इस मन्त्र का अभिप्राय ५ वें मन्त्र के अभिप्राय के सदृश ही है।

द्वेष-नद को लाँघो तो पापों से छूटोगे

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय। अप नः शोशुचदघम् ॥ अथर्व० ४। ३३। ७॥

(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले परमात्मन्! नाविक (इव) जैसे (नावा) नौका द्वारा यात्रियों को नदी के पार करता है वैसे ही आप (नः) हमें (द्विषः*) द्वेष-नद से (अति पारय) पार कीजिये। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप) हम से पृथक् होकर (शोशुचत्†) दग्ध हो जाय॥ ७॥

भावार्थः—(१) "विश्वतोमुख" परमात्मा का नाम है। यथाः—"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। यजु० १७। १९॥ परमात्मा विश्वतोमुख है

---

* द्विष् अप्रीतौ (भावे क्विप्)=द्वेषभाव॥

† शुच् दीप्तौ अर्थात् दाह॥

इसका क्या अभिप्राय है ? मुख का काम है शब्द बोलना, आवाज करना, उपदेश देना आदि । प्रकृति मानो परमात्मा का मुँह है । इस प्राकृतिक जगत् में जिधर भी नजर उठती है, उधर से ही, एक अपूर्व, परन्तु विचारशीलों के समझने के योग्य, उपदेश मिल रहा है । प्राकृतिक जगत् की एक २ घटना आ आकर हमें जीवनमार्ग का उपदेश दे रही है । ये सब परमात्मा के मुख हैं । इन घटनाओं से वस्तुतः परमात्मा ही बोल रहा है । प्राकृतिक घटनाओं को तो उसने केवल अपना साधन बनाया हुआ है । चूंकि इस संसाररूपी रङ्गस्थली में प्रत्येक घटना-नटी उन्हीं हाव भावों को अभिव्यक्त करती है जिन को अभिव्यक्त कराना रङ्ग-स्थली के मुख्यसूत्रधार को अभीष्ट है । अतः संसार की प्रत्येक घटना परमात्मा का मुख है।

(२) इन घटनाओं के पाठों पर विचार करता हुआ प्राणी जब इनके असली अभिप्रायों को समझ लेता है, उस समय वह उस महान् शक्ति-सागर के सन्मुख अपने आप को एक जलकण से भी अति तुच्छ जानने लगता है । उस समय वह दिव्य ज्योति के यथार्थ गुणों का अनुभव करने लगता है, और उसके चित्त में, अपने आपको, गुणों में, यत्किंचित्, उसके सदृश बनाने की, प्रबल उत्कण्ठा होती है । तब वह उसके और अपने परस्पर-मुकाबिले में अपने आप को दोषपूर्ण देखता

हैं। और सिवाय परमात्मा के और कोई अवलम्ब न जान, उस के सामने झुक, उससे प्रार्थना करने लगता है कि प्रभो! मेरे दोषों को हटाओ। राग द्वेष के बन्धन काटो। द्वेष के गहरे नद से मुझे पार करो।

(३) जब क्रमशः द्वेषभाव दूर हो जाता है और उस के स्थान में सच्चे प्रेम का स्रोत बहने लगता है, तब द्वेष-भाव-जन्य पाप भी द्वेषभाव के साथ ही छूट जाते हैं, और शनैः२ दग्धबीज के सदृश निर्बल और शक्तिहीन हो जाते हैं। जिस से पुनः वे पाप अङ्कुरित नहीं हो सकते। "*द्वेषभाव के छूटने से पाप-वृत्ति भी छूट जाती है*" *इस सिद्धान्त का प्रतिपादन* इस मन्त्र में बहुत उत्तम तरीके से किया गया है।

परमात्मोपासना द्वारा पापों से छुटकारा

अग्नेर्मन्वे प्रथमस्य प्रचेतसः पाञ्चजन्यस्य बहुधा यमिन्धते। विशो विशो प्रविशिवांसमीमहे स नो मुञ्चत्वंहसः॥ अथर्व० ४। २३। १॥

(प्रथमस्य) सब से पूर्व वर्तमान, (प्रचेतसः*) प्रकृष्ट ज्ञान वाले, (पाञ्चजन्यस्य) प्राणी-जगत् के हितकारी (अग्नेः)

---

* चित् का अर्थ है—सम्यक् ज्ञान॥

अग्नि का (मन्वे) मैं मनन करता हूं, (यम्) जिसे (वहुधा) वेदमन्त्र बहुत प्रकार से (इन्धते) प्रकाशित करते हैं। (विशः) प्रजा (विशः) प्रजा में अर्थात् हर वस्तु में (प्रविविशवांसम*) प्रविष्ट हुए उस अग्नि को (ईमहे) हम प्राप्त होते अर्थात् उसकी उपासना करते हैं (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पाप से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ८ ॥

भावार्थः—अग्नेः-इस मन्त्र में अग्नि पद से परमात्मा का वर्णन है।

(१) प्रथमस्यः-परमात्मा अज है, अनादि है, अतः वह जन्य-जगत् से प्रथम अर्थात् पूर्व का है।

(२) प्रचेतसः-वह प्रकृष्ट ज्ञानी है, अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्तमान, सन्निकृष्ट और विप्रकृष्ट सब पदार्थों का उसे तत्त्व ज्ञान है, अतः वह प्रचेता है।

(३) पाञ्चजन्यस्यः-पञ्चजन के तीन अर्थ हैं (क) मनुष्यों के पांच विभाग अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद अर्थात् पतित। (ख) पञ्चभूत (ग) पञ्चप्राण। जब तो पञ्चजन का अर्थ है "पांच प्रकार के मनुष्य' तब तो पाञ्चजन्य का अर्थ है "पाञ्च प्रकार के मनुष्यों का हितकारी

* विश् का अर्थ है "प्रवेश" ॥ ? ई गतौ ॥

वा रक्षक"। जब पञ्चजन का अर्थ है 'पञ्चभूत"। तब पञ्चजन पद लाक्षणिक होकर उनसे उत्पन्न हुए जगत् का उपलक्षक है। अतः इस अवस्था में पाञ्चजन्य का अर्थ है "जगत् का रक्षक"। परन्तु जब पञ्चजन पद का अर्थ "पांच प्राण" होगा तब यह पद प्राणीमात्र का उपलक्षक हो जाता है। इस अवस्था में पाञ्चजन्य का अर्थ है "प्राणियों का रक्षक"। अतः परमात्मा पांच प्रकार के मनुष्यों, सम्पूर्ण जगत् और प्राणी मात्र का रक्षक है यह पाञ्चजन्य शब्द का अर्थ हुआ।

(५) बहुधाः—वेदों में परमात्मा को बहुधा अर्थात् बहुत प्रकार तथा अनेक नामों से प्रकाशित किया है। यथाः—

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चन्द्रमाः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२। १॥

(६) मन्वेः—ऐसे प्रभु का ही सब को मनन करना चाहिये।

(७) ईमहेः—ऐसे ही प्रभु की उपासना करनी चाहिये।

(८) अंहसः—परमात्मा के मनन और उसकी उपासना से हमारी पापवृत्तियां दूर हो जाती हैं। मन्त्र में पापों को दूर करने के दो उपाय बताये हैं (१) परमात्मा के गुणों का मनन (२) और उसकी उपासना। हम जिस गुण का अधिक

मनन करते हैं उस गुण के संस्कार हमारे चित्त में दृढ़ होते जाते हैं और ये दृढ़ संस्कार हमारे जीवन को भी उसी गुण के अनुरूप बना देते हैं। परमात्मा के गुण यतः सभी उत्तम और श्रेष्ठ हैं अतः उन गुणों के मनन से हममें भी उन्हीं गुणों का निवास हो जायगा। इस प्रकार हम पापवृत्तियों से मुक्त होते जायँगे। दूसरा उपाय है—परमात्मोपासना। उपासना का अर्थ है—समीप बैठना। उप+आसना। समीप बैठने से गुणों का संक्रम हो जाता है, यथा कस्तूरी और वस्त्र के सान्निध्य से वस्त्र में भी कस्तूरी की गन्ध आ जाती है। परमात्मा के समीप बैठ कर परमात्मा के सत्सङ्ग का हमें अवश्य फल मिलेगा। जिससे हमारी चित्त-वृत्ति शुद्ध और निर्मल हो जायगी, और हम पापों से मुक्त हो जायंगे।

(९) इस "पाप-मोचन" के मन्त्र में परमात्मा का स्मरण अग्नि पद से किया है। अग्नि के सान्निध्य से जैसे धातु-मल दग्ध हो जाते हैं और शुद्ध धातु अवशिष्ट रह जाता है, *इसी प्रकार परमात्मा के सान्निध्य (उपासना=उप+आसना)* से चित्त के पाप-मल दग्ध हो जाते हैं और शुद्ध चित्त अवशिष्ट रह जाता है। इस भाव को द्योतित करने के लिये ही मन्त्र में अग्निपद से परमात्मा का स्मरण किया है।

दूसरा प्रकरण

वैयक्तिक जीवन की उच्चता के आवश्यक अङ्ग

ब्राह्मणवर्चस की प्राप्ति के उपाय

(१) नियमबद्धजीवन

सूर्यस्यावृतमन्वावर्ते दक्षिणामन्वावृतम् ।
सा मे द्रविणं यच्छतु सा मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥

अथर्व० १० । ५ । ३७ ॥

(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम् †) रीति (अनु) पर (आवर्ते) मैं आता हूं, (* दक्षिणाम्) वृद्धि के (आवृतम्) मार्ग (अनु) पर मैं आता हूं, (सा) वह रीति (मे)

---

* दक्षवृद्धौ ॥ † आवर्त्यते इति=नियम ॥

मुझे (*द्रविणम्) बल (†यच्छतु) देवे, (सा) वह (मे) मुझे (‡ब्राह्मणवर्चसम्) सूर्यसम तेज देवे ॥ ६ ॥

भावार्थः—सूर्य की रीति है—नियम। नियम से सूर्य उदित और नियम से अस्त होता है और नियम से ही ऋतु-ओं में परिवर्तन लाता है। नियम को यदि हम अपने जीवन में ले लें, तो हम वृद्धि के मार्ग पर पदार्पण करेंगे। और इससे हमें आत्मिक बल प्राप्त होगा, तथा हम भी सूर्यसम तेजस्वी बनेंगे। आदित्य-ब्रह्मचारी का तेज जो सूर्य सम होता है, उसका कारण उसके जीवन का नियमबद्ध होना ही है। इसी-लिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारी की संज्ञा मिली है।

---

(२) ब्रह्मोपासना

ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम्।

अथर्व० १० । ५ । ४० ॥

(ब्रह्म) ब्रह्म (अभि) की ओर (आवर्ते) मैं आताहूं, (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (द्रविणम्) बल (य-

---

* निघण्टु २ । ६ ॥ † दाण् को यच्छ आदेश ॥

‡ ब्राह्मण=(१) ब्राह्मण वर्ण, (२) ब्रह्म का यह=सूर्य, (३) ब्रह्मैव ब्राह्मणः=ब्रह्म, वर्चस्=दीप्ति या तेज ॥

च्छतु) देवें, (तत्) वह ब्रह्म (मे) मुझे (*ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मतेज देवें ॥ १० ॥

भावार्थः—मैं प्रकृति के रास्ते से हट कर अब ब्रह्म की ओर आता हूं। ब्रह्म मुझे आत्मिक-बल और ब्रह्म-तेज देवें। ब्रह्म के सङ्ग से ब्रह्म के गुण हम में अवश्य आवेंगे, जैसे प्रकृति के संग से प्रकृति के गुण हम में आ जाते हैं। ब्रह्मतेज का ध्यान, उस पर विचार तथा उस की चित्त में उत्कट भावना से हम में भी वह ब्रह्मतेज आता जायगा। ब्रह्म के तेज और सूर्य के तेज में अन्तर है। ब्रह्म का तेज आत्मिक है और सूर्य का तेज प्राकृतिक। आत्मा में ब्रह्म-तेज को स्थापन करना होता है और शरीर में सूर्यतेज को। ब्रह्म की उपासना से ब्रह्मतेज प्राप्त होता है और नियमबद्ध जीवन से सूर्य सम तेज प्राप्त होता है।

---

(३) सत्संग

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ अथर्व० १०। ५। ४१ ॥

(ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों की (अभि) ओर (आवर्ते)

---

*ब्रह्मैव ब्राह्मणः, अर्थात् ब्रह्मको भी ब्राह्मण शब्द से कहते हैं।

मैं आता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल (यच्छन्तु) देवें, (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मतेज या अपना तेज देवें ॥ ११ ॥

भावार्थः—"ब्रह्मणे ब्राह्मणम्" यजु० ३०, ५ में ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति के लिये ब्राह्मण को प्राप्त करने की आज्ञा दी है। ब्रह्म कहते हैं—वेद और परमात्मा को। अतः ब्राह्मण वे हैं जो वेदों को जानते हैं, वेद पढ़ा सकते हैं, वेदानुकूल आचरण रखते हैं, तथा ब्रह्मवेत्ता हैं। ऐसे ब्राह्मणों का सत्सङ्ग करना चाहिये। ऐसे ब्राह्मणों के सत्सङ्ग से हम में भी (१) वैदिक-तेज, (२) परमात्म-तेज और (३) ब्राह्मण वर्ण का तेज आ जायगा।

सूर्य सम तेजस्वी बनने की इच्छा

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ अथर्व० १७। १। २०॥

हे सूर्य! (शुक्रः) तू प्रकाशमान (असि) है, (भ्राजः) तेजःस्वरूप (असि) है। (यथा) जिस प्रकार (त्वम्) तू (सः) प्रत्यक्ष (भ्राजता) तेज के कारण

(भ्राजः) तेजस्वी (असि) है (एवा) इसी प्रकार (अहं) मैं (भ्राजता) तेज के कारण (भ्राज्यासम्) तेजस्वी बनूं ॥१२॥

भावार्थः—सूर्य प्रकाशमान् है, तेजस्वी है । सूर्य का दर्शन कर और सूर्य को आदर्श मान कर अपने आप को भी वैसा ही प्रकाशमान् और तेजस्वी बनाने की दृढ़ इच्छा तथा कोशिश करनी चाहिए । सूर्य का नाम आदित्य भी है । तीसरी कोटि के ब्रह्मचारी का तेज सूर्यसम हो जाता है । इसीलिये उसे आदित्य-ब्रह्मचारी कहते हैं । आदित्य ब्रह्मचर्य ४८ वर्षों का होता है । अतः सूर्यसम प्रकाशमान् तथा तेजस्वी बनने की इच्छा के साथ २ उस का उपाय जो ४८ वर्षों का ब्रह्मचर्य है उसे भी आचरणों में लाना चाहिये ।

उच्च कोटि के यशस्वी बनो

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ अथर्व० ६।३९।३॥

(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यशस्वी, (अग्निः) आग (यशाः) यशस्वी और (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यशस्वी (अजायत) हुआ है । (अहम्) मैं (यशाः) यश-

स्त्री (अस्मि) हूं, (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अत्यन्त यशस्वी हूं ॥ १३ ॥

भावार्थः--यशस्वी का अर्थ है यश वाला। यश कोई बुरी वस्तु नहीं। अपयश अवश्य बुरा है। प्रत्येक मनुष्य को यश प्राप्त करने की कोशिश करनी चाहिए। परमात्मा के लिये वेद में कहा है "*यस्य नाम महद्यशः*" यजु० ३२, ३। अर्थात् परमात्मा का बड़ा यश है। परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि यश "धर्म और सत्कर्मों" का फल है। अधर्म और असत्कर्मों का फल अपयश है, निन्दा है। यशस्वी होने के लिये असन्मार्गों का अवलम्बन नहीं करना चाहिये।

मन्त्र में यश की प्राप्ति में सूर्य, आग और चन्द्रमा का दृष्टान्त दिया है। इन के साथ "*अजायत*" अर्थात् जन धातु का प्रयोग किया है। जिस का अभिप्राय है कि सूर्य, आग और चन्द्र जन्म से ही यशस्वी हैं। यह क्यों ?। कारण यह कि (क) ये तीनों प्रकाशस्वरूप हैं (ख) तथा इन का प्रकाश स्वार्थ के लिये नहीं अपितु परार्थ के लिये है। सूर्य इसलिये प्रकाशित नहीं कि सूर्य को अपने लिये प्रकाश चाहिये अपितु इसलिये कि इस का प्रकाश औरों को चाहिये। इस प्रकार सूर्य ने जन्म-काल से ही स्वोपार्जित वस्तु को दूसरों के उपकार के लिये रख छोड़ा है न कि स्वार्थसिद्धि के लिये।

इसी प्रकार आग और चन्द्रमा के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये।

संसार में भी उसी व्यक्ति का यश होता है जो (क) प्रकाश मार्ग का अवलम्बन ले, (ख) तथा प्रकाश मार्ग पर चलते हुए उस ने जो भी प्रकाश प्राप्त किया है उस का परोपकार के अर्थ दान करे। दम्भ, द्वेष, कपट, ईर्ष्या, देशद्रोह, मित्रद्रोह, असत्य, नास्तिक्यादि दुर्गुण अन्धकारमार्ग के हैं। प्रेम, परोपकार, विद्या, ज्ञान, सदाचार, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि सद्गुण प्रकाश मार्ग के हैं।

प्रथम तो मनुष्य स्वयं इस प्रकाश मार्ग का अवलम्बन करे और प्रकाश प्राप्त होने पर उसे फिर औरों को दे। सूर्य आदि स्वयं ही यदि प्रकाशित न हों तो वे अन्यों को प्रकाश कैसे देंगे। इसी प्रकार मनुष्य यदि स्वयं ही अन्धकार में ठोकरें खा रहा है तो वह औरों को इन ठोकरों से कैसे बचा सकता है। अतः वेद आज्ञा देता है कि पहिले तुम (क) स्वयं प्रकाश प्राप्त करो, (ख) और पुनः प्राप्त हुआ प्रकाश दूसरों को दो। इस प्रकार यशस्वी बनो।

यशस्वीपन की हद क्या है? इस के लिये वेद में कहा है कि "*विश्वस्य भूतस्य यशस्तमः*" अर्थात् मनुष्य को सारे संसार में सब से अधिक यशस्वी बनना चाहिए। संसार में कोई भी

पदार्थ मनुष्य की अपेक्षा अधिक यशस्वी न होसके। यदि मनुष्य का यश किसी की अपेक्षा कम हो तो वह केवल एक प्रभु की अपेक्षा से। अन्य सब की अपेक्षा तो मनुष्य को ही अधिक यशस्वी होना चाहिये।

प्रत्येक सद्गुण में अत्यन्त यशस्वी बनो

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान्। यथाप ओषधीषु यशस्वतीः। एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम॥
अथर्व० ६। ५८। २॥

(यथा) जैसे (इन्द्रः) सूर्य (द्यावापृथिव्योः) द्युलोक और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) यश वाला है, (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) ओषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं। (एवा) इसी प्रकार (विश्वेषु) सब (देवेषु) देवों में और (सर्वेषु) हरेक गुण में (वयम्) हम सब (यशसः) यश वाले (स्याम) हों॥ १४॥

भावार्थः—१—इन्द्रः—द्युलोक और पृथिवीलोक में सूर्य अपने प्रकाश और तेज के कारण यशस्वी है।

२—आपः—ओषधियों में जल यशस्वी है। कारण यह कि ओषधियों में जल-रूप-औषध अधिक गुणकारी है। अतः

ओषधियों में जल यशस्वी है। जल-रूप-ओषध का प्रयोग जल-चिकित्सा में होता है। तथा विना जल के अन्न ओष-धियों की उत्पत्ति भी सम्भव नहीं। इसलिये भी जल का यश ओषधि-जगत् में है।

३—सूर्य और जल दोनों ही अपने अपने दिव्यगुणों के कारण यश वाले बने हैं। हमें चाहिये कि इन देवों अर्थात् दिव्यगुणों वाले पदार्थों तथा विद्वज्जनों में, हम भी अपने दिव्य गुणों के कारण यश के भागी बनें।। दिव्य गुणों वाले पदार्थों में यशस्वी होने का अभिप्राय यह है कि लोक में तेज के दृष्टान्त में सूर्य का, सौम्यगुण के दृष्टान्त में चन्द्र का तथा शान्ति के दृष्टान्त में जल का नाम लिया जाता है। मनुष्य तेज में, सौम्यगुण में तथा शान्ति में इतना प्रसिद्ध होजाय कि उसी को लोग उस उस गुण के उत्कर्ष में दृष्टान्त रूप से पेश किया करें। तब हम कह सकते हैं कि अमुक मनुष्य दिव्यगुणों वाले पदार्थों में यशस्वी है। विद्वज्जनों में यशस्वी होने का अभिप्राय स्पष्ट ही है।

४—हम यह भी कोशिश करें कि प्रत्येक दिव्यगुण में हमारा नाम यशस्वी हो अर्थात् हम प्रत्येक दिव्यगुण के उत्कर्ष को प्राप्त करें।
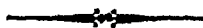
संकल्प शक्ति के गुण

आकूतिं देवीं सुभगां पुरो दधे चित्तस्य माता सुहवा नो अस्तु। यामाशामेमि केवली सा मे अस्तु विदेयमेनां मनसि प्रविष्टाम्॥ अथर्व० १९।४।२॥

(देवीं) दिव्यगुणों वाली (सुभगां) तथा उत्तम भग को पैदा करने वाली (आकूतिम्) संकल्प-शक्ति को (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूं, (चित्तस्य) चित्त की (माता) माता अर्थात् जननी रूप वह संकल्प-शक्ति (नः) हमारे लिये (सुहवा) सहज में बुलाने योग्य (अस्तु) होवे। (याम्) जिस (आशाम्) कामना को (एमि) मैं प्राप्त होऊं (सा) वह (मे) मेरी कामना (केवली) केवल अर्थात् अकेली हो, संकीर्ण न हो, (मनसि) मन में (प्रविष्टाम्) प्रविष्ट हुई (एनाम्) इस संकल्पशक्ति को (विदेयम्) मैं पाऊं॥१५॥

भावार्थः—ऊपर के मन्त्र में आकूति का वर्णन है। आकूति का अर्थ है संकल्प-शक्ति। मन्त्र में संकल्पशक्ति के विषय में निम्नलिखित बातें कही हैं:—

(१) मनसि प्रविष्टाम्:—संकल्प-शक्ति मन में प्रविष्ट है अर्थात् मन में रहती है। संकल्प-शक्ति मन का धर्म है। अतः मन के संयम से हम संकल्प-शक्ति को अपने वश में कर सकते हैं।

(२) विदेयम्:—प्रत्येक मनुष्य को संकल्प-शक्ति की प्राप्ति के लिये यत्न करना चाहिये।

(३) सुध्रुवाः—संकल्प-शक्ति को सुदृढ़ बनाना चाहिये। अर्थात् जिस समय चाहें उस संकल्प-शक्ति को हम बुला सकें, इसे चित्त में उपस्थित कर सकें, संकल्पशक्ति भृत्यवत् हमारे वश में होकर रहे। कई मनुष्य ऐसे होते हैं कि उन में संकल्पशक्ति का लगभग अभाव ही होता है। तथा कई ऐसे भी होते हैं जिन में थोड़ी बहुत संकल्पशक्ति तो होती है परन्तु यथासमय वे अपने मन में संकल्पशक्ति को पैदा नहीं कर सकते। दोनों प्रकार के ये मनुष्य सदाचार तथा कर्तव्य में कमज़ोर होते हैं।

(४) केवली:—मन्त्र में यह भी कहा है कि एक समय में एक ही कामना करो। उस कामना की पूर्ति के लिये अपनी संकल्पशक्ति लगाओ तो कामनासिद्धि अवश्य और शीघ्र होगी। यदि एक ही समय में कई कामनाएं की जाएंगी तो संकल्पशक्ति बंट जायगी और कार्यसिद्धि में उचित सहायता न दे सकेगी। अतः संकल्पशक्ति के अभ्यास करने वाले को चाहिये कि वह अपनी इच्छाओं या कामनाओं का विश्लेषण (Analysis) करे और उन विश्लिष्ट कामनाओं में से प्रथम एक कामना को ले और मन में धारणा करे कि मैंने अमुक

कार्य करना है। इस प्रकार अपना एक लक्ष्य निश्चित कर के उस के लिये संकल्प-शक्ति को लगावे तो वह अवश्य सफल हो जायगा। अभ्यासी के चित्त में यदि बहुत कामनाएं एक दम उठ पड़ेंगी और वह अभ्यासी यदि किसी एक कामना को अपना लक्ष्य न बना सकेगा तो उसकी संकल्प-शक्ति उसकी मदद न कर सकेगी। अतः संकल्प-शक्ति के अभ्यासी को यह अभ्यास अवश्य प्राप्त करना चाहिये कि वह अपनी इच्छाओं, कामनाओं वा आशाओं को केवल अर्थात् व्यक्ति के रूप में पृथक् पृथक् कर सके। अर्थात् अनेक इच्छाओं की युगपत् उपस्थिति में भी वह उन सङ्कीर्ण इच्छाओं को अकेला अकेला कर सके और तत्पश्चात् इस अकेली अकेली इच्छा को अपना लक्ष्य बनावे। इसी सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में केवली पद का प्रयोग है।

(५) चित्तस्य माता:—संकल्पशक्ति चित्त की माता है। माता के बिना सन्तति नहीं होती। चित्त को अस्तित्व देने वाली संकल्प-शक्ति ही है। संकल्प-शक्ति के बिना चित्त का स्वरूप ही सम्भव नहीं। क्योंकि चित्त के जितने भी गुण धर्म हैं, उन की कार्यक्षमता संकल्प-शक्ति पर ही निर्भर है। उदाहरण के लिए चित्त के एक धर्म अर्थात् ज्ञान को हम लेते हैं। ज्ञान की प्राप्ति भी दृढ़ संकल्प पर अवलम्बित है। ज्ञान की प्राप्ति

के लिये कई कष्ट सहने पड़ते हैं। उन कष्टों पर विजय पाना दृढ़ संकल्प-शक्ति वालों का ही काम है। इसी प्रकार चित्त के अन्य गुणधर्मों को भी हम दृष्टान्त रूप से पेश कर सकते हैं और सिद्ध कर सकते हैं कि उन गुणधर्मों की स्थिति संकल्प-शक्ति के विना असम्भव है। इन गुणधर्मों को चित्त से पृथक् कर के यदि सोचा जाय तो चित्त की स्थिति की कोई भी कल्पना मन में उपस्थित नहीं होती। अतः चित्त की स्थिति, चित्त के गुणधर्मों से पृथक् होकर, न के बराबर है। संकल्पशक्ति चूंकि चित्त के गुणधर्मों की माता है, अतः वह चित्त की भी माता कही जाती है।

(६) देवीः—संकल्प-शक्ति देवी है। देवी का अर्थ है दिव्य गुणों वाली। वास्तव में संकल्प-शक्ति में बड़े-बड़े दिव्य गुण हैं। संकल्प-शक्ति के द्वारा हम आश्चर्यजनक कामों को कर सकते हैं। संकल्प-शक्ति के प्रभाव को देखने के लिए योग-दर्शन के सिद्धिपाद का अवश्य स्वाध्याय करना चाहिए।

(७) सुभगाः—संकल्प-शक्ति सुभगा है। यह भग को पैदा करती है। भग के ६ अर्थ हैं—ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य। इन में से किसी की भी प्राप्ति संकल्प-शक्ति के विना नहीं हो सकती। इसीलिये संकल्प-शक्ति को सुभगा कहा है।

(८) मन्त्र के " पुरोदधे " पदों पर भी ध्यान देना चाहिये। " विदेयम् " और "पुरोदधे" का अभिप्राय एकसा ही है। तो भी कुछ फर्क है। " विदेयम् " पद द्वारा संकल्प-शक्ति की प्राप्ति के लिये केवल इच्छा ही प्रकट की गई है और " पुरोदधे " पद द्वारा उस संकल्प-शक्ति को आगे रखने का प्रण किया गया है। आगे रखने का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य करने के पूर्व दृढ़-संकल्प-शक्ति का प्रयोग किया जाय। यथा 'मैं 'इस कार्य को अवश्य करूंगा' 'इस कार्य को पूरा करने के लिये मुझ में शक्ति अवश्य है' 'मैं इस कार्य में उपस्थित होने वाली सब बाधाओं को हटा सकता हूँ' इत्यादि प्रकार से संकल्पशक्ति को, प्रत्येक कार्य के करने के पूर्व, हम अपने चित्तों में रक्खें। अथवा 'पुरोदधे' का यह भी अभिप्राय हो सकता है कि मैं संकल्प-शक्ति को सर्वदा अपने सामने रखता हूँ। कभी उसे भुलाता नहीं।

(९) संकल्प-शक्ति का थोड़ासा और भी वर्णन हम पाठकों के विचारार्थ रखना चाहते हैं, ताकि पाठकों के चित्त में इस शक्ति का यथार्थ गौरव बैठ सके।

क—संकल्प पद "सम्+क्लृप्" से बनता है। सम् का अर्थ है—अच्छे प्रकार और क्लृप् का अर्थ है सामर्थ्य। संकल्प से मन में अच्छा सामर्थ्य पैदा होजाता है, यह भाव संकल्प पद की रचना से ही सूचित हो रहा है।

ख—शब्दस्तोममहानिधि में संकल्प का लक्षण निम्न-लिखित शब्दों में दिया है "अभीष्टसिद्धये इदमित्थमेव कार्य-मित्येवंरूपे मनसो व्यापारभेदे" जिस का अर्थ यह है कि "इष्ट वस्तु की सिद्धि के लिये, 'यह इस प्रकार ही करना चाहिये, इस प्रकार मन का जो एक व्यापार विशेष है, उसे संकल्प कहते हैं"। आगे चलकर वही कोष फिर लिखता है "कर्म-साधनायाभिलापवाक्ये"। अर्थात् "कर्म की सिद्धि के लिये दृढ़ निश्चय का द्योतक जो एक प्रकार का मानस-कथन है उसे संकल्प कहते हैं"। इसी लिये वेद में इस संकल्प-शक्ति का नाम आकूति दिया है। आकूति पद में जो "कू" धातु है उस का अर्थ है—शब्द करना। मन में जो दृढ़तासूचक वाक्य बोले जाते हैं यथा—"मैं ऐसा करूंगा" "यह अवश्य किया जासकता है" इन्हीं का नाम आकूति या संकल्प है।

शब्दस्तोम में और भी लिखा है कि "मानससंकल्पो द्विविधः, भावाभावविषयभेदात्। तत्राद्यः मयैतत्कर्तव्यमि-त्येवंरूपः, द्वितीयः मयैतन्न कर्तव्यमित्येवंरूपः"। इस का अभिप्राय यह है कि "मानसिक संकल्प के दो भेद हैं। एक प्रकार के मानसिक संकल्प का विषय भाव रूप है और दू-सरे प्रकार के मानसिक संकल्प का विषय है अभाव रूप। यथा—मुझे अमुक कार्य अवश्य करना चाहिए यह तो भावरूप

संकल्प है और मुझे अमुक कार्य न करना चाहिये यह संकल्प अभाव रूप है। इसीलिये धर्म के भी दो भेद हैं विधिरूप और निषेधरूप। यथा-संध्या करना विधिरूप धर्म है और चोरी न करना निषेधरूप धर्म है।

ग—पद्मपुराण में भी लिखा है कि "संकल्पेन विना राजन्! यत्किंचित्कुरुते नरः। फलस्याल्पाल्पकं तस्य धर्मस्यार्धक्षयो भवेत्॥

अर्थः—हे राजन्! संकल्प के विना मनुष्य जो कुछ भी करता है उस का धर्म आधा रह जाता है, और उस के कार्य का फल भी अल्पाल्प होता जाता है।

कारण क्या ? । कारण यही है कि धर्म दो प्रेरक भावों द्वारा किया जा सकता है। या तो धर्म का गौरव जान कर स्वयं अपनी इच्छा द्वारा और या लोक-लज्जा अथवा लोकैषणा के द्वारा। जब अपनी इच्छा द्वारा धर्म किया जाता है तब तो उस के साथ संकल्प-शक्ति रहती ही है, और इस प्रकार उस धर्मकृत्य का भी उत्तम फल होता है। परन्तु जब यही धर्मकृत्य लोकलज्जा अथवा लोकैषणा से प्रेरित होकर किया जाता है, तब इस धर्मकृत्य के साथ कर्त्ता की वास्तविक इच्छा या संकल्प-शक्ति नहीं होती। इस धर्मकृत्य का करना केवल इस

समय ढोंग मात्र होता है। अतः इस का फल भी उत्तम नहीं हो सकता। यही पद्मपुराण का यहां अभिप्राय है।

घ—लिङ्गार्चनतन्त्र के पांचवें पटल में लिखा है कि—

संकल्पं मानसं देवि! चतुर्वर्गप्रदायकम्।

अर्थः—हे देवि! मन का संकल्प चतुर्वर्ग का साधक है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, यह चतुर्वर्ग है। सुभगा पद की व्याख्या का इस के साथ मुकाबिला करो।

ङ—मनुमहाराज ने भी संकल्प की महिमा दर्शाई है। यथाः—

संकल्पमूलः कामो वै यज्ञाः संकल्पसम्भवाः।
व्रतानि यमनियमाश्च सर्वे संकल्पजाः स्मृताः॥

अर्थः—संकल्प, इच्छा-सिद्धि का मूल है. संकल्प से यज्ञ होवे हैं। व्रत, यम और नियम भी संकल्पजन्य हैं।

च—इसी प्रकार यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र १ से ६ में भी "तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" द्वारा मानसिक शिवसंकल्पों की प्राप्ति के लिये कहा है। "मैंने संसार भर का दुःख हटाना है" "मैंने पाप कभी नहीं करना" ये तो शिवसंकल्प हैं।

इस से विपरीत "मैंने इसका बदला अवश्य लेना है" "मैं उस को अवश्य सताऊंगा" ये अशिवसंकल्प हैं।

(१०) आकूति = आ+कूङ् (शब्दे)+क्तिन्। अर्थात् अपने चित्त में शब्द उठाने कि "मैं कार्य कर सकता हूं" "यह कार्य उत्तम है" "इसे करना चाहिये" "मेरी शक्ति प्रतिबन्धकों पर अवश्य विजय पा लेगी" ये शब्द संकल्पशक्ति या आकूति के उदाहरण हैं।

(११) आशा=आङ् शासु इच्छायाम्। अतः आशा का अर्थ है—इच्छा, कामना।

आशामय जीवन।

पश्येम शरदः शतम् ॥ १ ॥ जीवेम शरदः शतम् ॥ २ ॥
बुध्येम शरदः शतम् ॥ ३ ॥ रोहेम शरदः शतम् ॥ ४ ॥
पूषेम शरदः शतम् ॥ ५ ॥ भवेम शरदः शतम् ॥ ६ ॥
भूयेम शरदः शतम् ॥ ७ ॥ भूयसीः शरदः शतात् ॥ ८ ॥
अथर्व० १६। ६७। १–८ ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (पश्येम) हम देखते रहें ॥ १ ॥
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (जीवेम) हम जीते रहें ॥ २ ॥
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (बुध्येम) हम बोध प्राप्त करते रहें ॥ ३ ॥

(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (रोहेम) हम बढ़ते रहें ॥ ४ ॥
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (पूषेम) हम पुष्ट होते रहें ॥ ५ ॥
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (भवेम) हम बने रहें ॥ ६ ॥
(शतम्) सौ (शरदः) वर्ष (भूषेम) हम देह-भूषा करते रहें ॥ ७ ॥
(शतात्) सौ से भी (भूयसीः) अधिक (शरदः) वर्षों तक हम उपरोक्त कार्य करते रहें ॥ १६ ॥

भावार्थः—(१) आज कल छोटी आयु में ही इन्द्रियां काम देना बन्द कर देती हैं। वेद में लिखा है कि हमारी आंख की शक्ति १०० वर्षों तक बनी रहे।

(२) वेद का जीवन इतना आशामय है कि वेदों का भक्त १०० वर्षों तक लगातार ज्ञान प्राप्त करते रहने का अभिलाषी है।

(३) हमारे बढ़ने की शक्ति आजकल लगभग २५ सालों की उम्र तक सीमित है। परन्तु मन्त्र में सौ वर्षों तक निरन्तर बढ़ते जाने का कथन है।

(४) तथा साथ ही सौ वर्षों तक निरन्तर पुष्टि प्राप्त करते जाने का भी कथन है।

(५) वेद, मनुष्यों के जीवनों में से आनन्द और मोद

प्रमोद का रस निकाल कर उन्हें सूखी लक्कड़ नहीं बनाना चाहता। इसीलिए ७ वें टुकड़े या मन्त्र में यह इच्छा प्रकट की गई है कि हम सौ वर्ष तक अपना भूषण तथा शोभा-सौन्दर्य स्थिर रक्खें। बल्कि—

(६) भूयसीः अर्थात् सौ वर्षों से अधिक भी उपरोक्त कार्यों को करें। वैदिक धर्म के आशामय जीवन का थोड़ासा नमूना ऊपर के मन्त्रों में दिया है। उनके पढ़ने से पाठकों के चित्तों में उस आशामय जीवन का चित्र अवश्य अंकित हो-गया होगा।

जीवन की पवित्रता

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया। पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ अथर्व० ६। १९। १ ॥

(देवजनाः) दिव्यगुणों वाले जन (मा) मुझे (पुनन्तु) पवित्र करें, (मनवः) मननशील मनुष्य मुझे (धिया) बुद्धि और कर्म द्वारा (पुनन्तु) पवित्र करें। (विश्वा) सब (भूतानि) भूत (पुनन्तु) मुझे पवित्र करें, (पवमानः) पवित्र परमात्मा (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे ॥ १७॥

भावार्थः—(१)देवजनाः—वे जन जो दिव्यगुणों वाले हैं, दिव्यगुणों को देकर मुझे पवित्र करें। सत्यभाषण, परोपकार, दया आदि दिव्यगुण हैं। इन गुणों के धारण करने से मनुष्य पवित्र होजाता है। जिन जनों में ये दिव्यगुण रहते हैं उन्हें देवजन कहते हैं।

(२) मनवः—मननशील मनुष्य मेरी बुद्धि को पवित्र कर मुझे पवित्र करें। पवित्र और अपवित्र कर्मों का मूल बुद्धि है। इसीलिये श्रेष्ठ गायत्री मन्त्र में भी बुद्धि के लिये प्रार्थना है। बुद्धि के पवित्र हो जाने पर कर्म स्वयं पवित्र हो जाते हैं। मन्त्र में बुद्धि और उस के द्वारा जीवन को पवित्र करने का सामर्थ्य "मनव" को दिया है। मनवः का अर्थ है—मननशील मनुष्य। अतः इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होरहा है कि बुद्धि को पवित्र करने का मुख्य साधन मनन है। जैसे २ हम सत्कर्मों और सद् विचारों का मनन करेंगे, वैसे वैसे हम में मानसिक स्थिरता के साथ साथ, उन सत्कर्मों तथा सद्विचारों में अनुराग बढ़ता जायगा जिस का कर्मों पर भी अवश्य असर होगा।

(३) विश्वाभूतानिः—विश्वभूत मुझे पवित्र करें, यह तीसरा प्रक्रम है। जब हमारे जीवनों में विश्व-भूत-हित का भाव जागृत होता है तो यह भाव हमें पवित्र बना देता है।

जैसे २ स्वार्थ के भावों के स्थान में परार्थ के भाव आते जाते हैं जीवन भी वैसे ही शनैः शनैः पवित्र होता जाता है।

(४) पवमानः—चौथा प्रक्रम है, परमात्मा से पवित्रता का मांगना। परमात्मा पवित्र से भी पवित्र है, इससे बढ़ कर कोई पवित्र नहीं। अतः परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना द्वारा अपने जीवन को पवित्र बनाना, यह अन्तिम साधन है। इस प्रकार इस मन्त्र में पवित्रता के चार साधन माने हैं १—देवजनों की सत्सङ्गति द्वारा दिव्यगुणों का लाभ, २—मनन शीलों की सत्संगति द्वारा मनन का लाभ, ३—विश्वभूतहित, ४—परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना और उपासना। इन चारों साधनों से हमारा जीवन पवित्र हो सकता है।

पवित्रता के बिना उत्तम बुद्धि, उत्तम कर्म, उन्नत जीवन तथा अहिंसा असम्भव है

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे। अथो अरिष्टतातये॥ अथर्व० ६। १९। २॥

(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (पुनातु) पवित्र करे, (क्रत्वे) बुद्धि और कर्म के लिये, (दक्षाय) वृद्धि तथा बल के लिये, (जीवसे) जीवन के लिये, (अथो)

और उस के बाद (अरिष्टतातये) अहिंसा के विस्तार के लिये ॥ १८ ॥

भावार्थः—मन्त्र में पवित्र परमात्मा से पवित्रता मांगी है। बिना पवित्रता के बुद्धि-शक्ति तथा कर्मयोग, चहुँ मुख वृद्धि तथा शारीरिक मानसिक और आत्मिक बल तथा उत्तम जीवन नहीं हो सकते। और इन की प्राप्ति के बिना अहिंसाभाव का विस्तार हम नहीं कर सकते। पवित्रता साधन है क्रतु दक्ष और पवित्र जीवन में। क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन साधन हैं अरिष्टाति अर्थात् अहिंसाभाव के विस्तार में। अतः प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य है कि वह पवित्रता को प्राप्त कर क्रतु, दक्ष तथा उत्तम जीवन को प्राप्त करे और इन को प्राप्त कर संसार में अहिंसा का प्रचार करे। अहिंसा-वृत्ति के मूल में पवित्रता का निवास है। जीवन में पवित्रता के बिना अहिं-सा का भाव जागृत नहीं हो सकता। एक बात और स्मरण रखनी चाहिये। हिंसकों के प्रति हिंसा का व्यवहार न करने में ये दो भाव हैं—(क) कायरता, (ख) अहिंसा वृत्ति। यदि मनुष्य कायर है तब तो वह हिंसकों के प्रति हिंसा का व्यवहार कर ही नहीं सकता। यदि वह प्रत्यपकार के लिये बल रखता हुआ भी हिंसा नहीं करता तो वह इसलिये नहीं कि वह कायर है, अपितु इसलिये कि वह इस मार्ग का अ-

वलम्बन करना ही नहीं चाहता। यही वृत्ति अहिंसा भाव की है। बल न होने पर क्षमा कर देना क्षमा नहीं, अपितु कायरता है। और बल के रहने हुए क्षमा कर देना वास्तव में क्षमा है। यही अहिंसा है। इसीलिये मन्त्र में दक्ष अर्थात् बल की प्राप्ति के बाद अरिष्टताति अर्थात् अहिंसा का वर्णन है। अतः बिना पवित्रता के ऋतु, दक्ष और जीवन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता और बिना इन के पूर्ण विकास के अहिंसा धर्म का विस्तार नहीं हो सकता।

पापनिराकरण के उपाय

(१) पापों से अलग होने की दृढ़ इच्छा

वि देवा जरसावृतन् वि त्वमग्ने अराल्या। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा॥ अथर्व० ३। ३१। १॥

(देवाः) देव लोग (जरसा) बुढ़ापे से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं, (अग्ने) हे आग ! (त्वम्) तू (अराल्या) अदान से (वि) अलग रही है। (अहम्) मैं (सर्वेण) सब (पाप्मना) पाप से (वि) अलग रहूं, (यक्ष्मेण) यक्ष्म आदि रोगों से (वि) अलग रहूं, (आयुषा) उत्तम तथा पूर्ण आयु से (सम्) संयुक्त रहूं॥ १६॥

भावार्थः—(१) इस मंत्र में व्यक्ति, पापों और रोगों से अलग रहने की इच्छा प्रकट करता है। इस इच्छा की पूर्ति के लिये वह संसार के दो प्रसिद्ध दृष्टान्तों को अपने सन्मुख रखता है। पहिला दृष्टान्त देवों का और दूसरा अग्नि का है। देव बुढ़ापे से और आग अदान से जैसे सदैव अलग रहते हैं, कभी इन से संबद्ध नहीं होते, इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगों से अलग हो जाऊँ, यही दृढ़ेच्छा इस मन्त्र द्वारा की गई है।

(२) मन्त्र में कहा है कि देवों को बुढ़ापा नहीं आता। वे सदैव बुढ़ापे से उन्मुक्त रहते हैं। यूं तो बुढ़ापा सभी को आता है, भेद इतना ही है कि देवों को केवल शरीर का बुढ़ापा आता है और वह भी देर में, परन्तु हम लोगों को शरीर और मन दोनों का बुढ़ापा आता है और वह भी शीघ्र। यदि मन में बुढ़ापा नहीं तो शरीर का बुढ़ापा कोई बुढ़ापा नहीं। देव कहते हैं "दिव्य गुण वालों को"। सदाचारी, परोपकारी, निर्भय, उदार, शूर तथा विद्वान् देव हैं। इन को मानसिक बुढ़ापा कभी भी नहीं आता। जैसे ये बुढ़ापे से छूटे हुए हैं इसी प्रकार पापों और रोगों के सम्बन्ध से मैं भी सदा छूटा रहूँ।

(३) दूसरा दृष्टान्त है अग्नि का। अग्नि अदान से सदोन्मुक्त है। अग्नि पैदा होता हुआ ताप और प्रकाश के साथ ही पैदा होता है। ताप और प्रकाश से शून्य अग्नि की सत्ता

ही नहीं हो सकती। अग्नि पैदा होते ही ताप और प्रकाश का दान भी करने लगता है। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि अग्नि पैदा हो, उस के पास ताप और प्रकाश हों और वह उस ताप और प्रकाश का दान न करे। दीपक जलते ही वह ताप और प्रकाश का दान करने लगता है। अतः अग्नि अदान से सर्वथा और सर्वदा अलग है। इसी प्रकार इस अग्नि में जो वस्तु डाली जावे उसे यह अपने लिये नहीं रखता अपितु उसे पूर्णरूप में वायु, जल तथा ओषधि आदि को दान कर देता है। जैसे अग्नि अदान से अलग है इसी तरह मैं भी पापों और रोगों से अलग होजाऊँ इस प्रकार की इच्छा पाठक किया करें यह मन्त्र में सूचित किया है।

(४) मन्त्र में दूसरी यह इच्छा की गई है कि मैं उत्तम तथा पूर्ण आयु वाला होऊँ। इस प्रसङ्ग में मन्त्र के पिछले आधे हिस्से पर पुनर्विचार की अत्यन्त आवश्यकता है। मन्त्र के इस हिस्से में तीन इच्छाओं का वर्णन है। (क) मैं सभी पापों से पृथक् हो जाऊं। पाप तीन तरह के होते हैं—मानसिक, वाचिक और कायिक। किसी का बुरा चाहना, कुविचार करना आदि मानसिक पाप हैं। कठोर बोलना, निन्दा करना, असत्य बोलना आदि वाचनिक पाप हैं। व्यभिचार, हिंसा, कुचेष्टा आदि कायिक पाप हैं। (ख) दूसरी इच्छा यह है कि मैं रोगों

से मुक्त हो जाऊं। (ग) तीसरी इच्छा यह है कि मैं उत्तम और पूर्ण आयु के साथ संयुक्त हो जाऊं। इन तीनों इच्छाओं में कार्यकारणभाव है। तभी इन का इस क्रम से वर्णन मन्त्र में किया है। पापों से हटने पर रोगों से मुक्ति हो सकती है और रोगों से मुक्ति मिलने पर आयु की उत्तमता और पूर्णता हो सकती है। पापी मनुष्य कभी रोगों से मुक्त नहीं हो सकता और रोगी कभी भी उत्तम तथा पूर्ण आयु को प्राप्त नहीं कर सकता। अतः प्रथम पापों से हटना चाहिये पुनः हम रोगों से मुक्ति पा सकेंगे और तत्पश्चात् हम उत्तम तथा पूर्ण आयु प्राप्त कर सकेंगे।

(५) परन्तु प्रश्न पैदा हो सकता है कि इस मन्त्र में पापों से अलग होने का कोई तरीक़ा या साधन तो बतलाया नहीं फिर पापों से छुटकारे का वर्णन कैसा? इस का उत्तर यह है कि "मैं पापकर्मों से अलग रहूं" यह दृढ़ेच्छा ही मनुष्य को पापकर्मों से बचाती है। यह सदिच्छा ही मनुष्य को पाप-पङ्क से बाहिर निकाल देती है। बल्कि मनुष्य का पाप-पङ्क के साथ सम्बन्ध ही नहीं होने देती। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः" मन ही मनुष्यों के बन्ध और मोक्ष का कारण है। यदि सदिच्छा से मनोभूमि को परिष्कृत कर लिया जाय तो इस में पाप की जड़ लग ही नहीं सक-

ती। मनुष्य के मन में यदि पापों से छुटकारा पाने की दृढ़े-च्छा होगई है तो वह अवश्य ही पापबन्धन से मुक्ति पा सकता है। और इस प्रकार पापों से छुटकारा पाने पर जब शरीर, मन और आत्मा रोगों से मुक्त होकर स्वस्थ हो जावें तो मनुष्य की आयु उत्तम तथा पूर्ण हो सकती है। इसलिये इस मन्त्र में पापों से छूटने की इच्छा करने मात्र का ही उपदेश है।

पापनिराकरण के उपाय

(२) पवित्रता और (३) शक्ति

व्यार्त्या पवमानो वि शक्रः पापकृत्यया। व्यहं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ अथर्व० ३। ३१। २॥

(पवमानः) पवित्र करने वाला (आर्त्या) दुःख-पीड़ा से (वि) अलग है, (शक्रः) शक्तिशाली (पापकृत्यया) पाप-कर्म से (वि) अलग है। (अहम्) मैं (सर्वेण) सर्व (पाप्मना) पाप से (वि) अलग रहूँ, (यक्ष्मेण) क्षयरोग से (वि) अलग रहूँ, (आयुषा) [उत्तम और पूर्ण] आयु से (सम्) संयुक्त होऊँ ॥ २० ॥

पूङ् पवने। (२) ऋ हिंसायाम्। (३) शक्लृ शक्तौ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में वि और सम् के साथ पूर्व मन्त्र में पठित वृत् धातु का संबन्ध करना चाहिये।

(२) मन्त्रगत पवमान और शक्र पद परमात्मा के नाम हैं। परमात्मा स्वयं पवित्र है और अन्यों को पवित्र करता है, अतएव दुःख पीड़ा उसे नहीं होते। दुःख और कष्ट अपवित्र कर्मों के फल हैं। पवित्र कर्मों के नहीं। पवित्र कर्मों का फल सुख और आनन्द होता है। परमात्मा साधुकर्मा है, पवित्रकर्मा है, अतः उसे सर्वदा आनन्द होता है। उस के साथ दुःख और कष्ट का सम्पर्क नहीं। वह दुःख और कष्ट से सर्वदा अलग है। इस ऊपर लिखे सत्य सिद्धान्त के दर्शाने के लिये "व्यार्त्या पवमानः" ऐसे शब्द मन्त्र में रक्खे हैं। जिनका यह भाव है कि चूंकि परमात्मा पवमान है इसीलिये वह आर्ति अर्थात् कष्टों से अलग है। इसी प्रकार जो कोई भी पवमान होगा अर्थात् स्वयं पवित्र होकर औरों को भी पवित्र बनावेगा वह दुःख और कष्टों से अवश्य छुटकारा पालेगा।

(३) मन्त्र का दूसरा टुकड़ा है "वि शक्रः पापकृत्या"। जिस का अर्थ यह है कि शक्तिशाली, पापकर्म से अलग रहता है। धर्मशास्त्रों में पापवृत्तियों को शत्रु कहा है। ये पापवृत्तियां बाह्यशत्रु नहीं अपितु अन्तःशत्रु हैं। बाह्यशत्रु, धन माल

घर नगर पर प्रहार करते हैं और अन्तःशत्रु मन पर। शत्रुओं के रोकने के लिये समाज और राष्ट्र में शक्ति चाहिये। इस शक्ति के अभाव में शत्रु अवश्य ही उस समाज या राष्ट्र को दबा लेंगे। इसी प्रकार जिस मनुष्य में शक्ति नहीं कि वह अपने अन्तःशत्रुओं को रोक सके, उस के अन्तःशत्रु उसे अवश्य दबा लेंगे। परमात्मा शक्त हैं। वह शक्तिमान् है। अतएव वह पापकृत्या से अलग है। पाप का बल, शक्तिशाली परमात्मा पर कुण्ठित हो जाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य पाप को परास्त करने के लिये अपने अन्दर शक्ति का संचय कर लेता है पाप उसे भी नहीं सताता। अतः प्रत्येक मनुष्य को आत्मिक बल का और मनःशक्ति का संचय करना चाहिये। शारीरिक बल का क्षय होना भी पाप का साधन बन जाता है।

(४) अतः पापों से अलग रहने के दो उपाय इस मन्त्र के पूर्वार्ध में बताये हैं।

(क) *पवित्र होना*, (ख) *शक्ति प्राप्त करना*। मन्त्र के उत्तरार्ध में पाप से अलग होने का (ग) तीसरा उपाय "*पाप से अलग होने की इच्छा*" बतलाया है। इस प्रकार इन उपायों द्वारा सब पापों से मुक्त होकर रोगों से मुक्त हो हम उत्तम तथा पूर्ण आयु को पा सकते हैं।

पापनिराकरण के उपाय

(४) मूल

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत्सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति॥ अथर्व० १० । १ । १३ ॥

(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) धूलि को (च) और (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) विच्युत कर देता है। (एवा) इसी प्रकार (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्म द्वारा धकेला हुआ (सर्वम्) सब (दुर्भूतं) पाप (मत्) मुझ से (अपायति) दूर हट जाता है ॥ २१ ॥

भावार्थः—(१) वैदिक साहित्य में ब्रह्म शब्द द्वारा तीन अर्थ लिये जाते हैं। परमात्मा, वेद और ब्राह्मण। परन्तु इस मन्त्र में ब्रह्म शब्द द्वारा परमात्मा का ही ग्रहण प्रतीत होता है।

(२) मन्त्र में चित्त को भूमि और अन्तरिक्ष से, दुर्भूत अर्थात् पाप को रेणु और अभ्र से, तथा वायु को ब्रह्म से उपमित किया गया है। वायु, भूमि से मृत्कणों को और अन्त-

रिक्त से मेघों को, अनायास ही स्थानभ्रष्ट कर देता है। इसी प्रकार ब्रह्मरूपी वायु भी, चित्तरूपी भूमि और अन्तरिक्ष से, पापरूपी रेणु और अभ्र को धकेल कर दूर कर देता है।

(३) वायु के दृष्टान्त द्वारा ब्रह्म में पापों को दूर करने की स्वाभाविक शक्ति जतलाई है। पाप, रजोगुण और तमोगुण का धर्म है। योगदर्शन में लिखा है कि ब्रह्माराधना द्वारा ब्रह्म जब प्रसन्न हो जाता है तो वह भक्तों पर अनुग्रह करता है और भक्तों के रज तथा तम को दूर कर उन को समाधिलाभ शीघ्र कराता है। देखो योगदर्शन पा० १, सू० २३, तथा उस पर भाष्य। जब रज और तम दूर हुए तो रज और तम के धर्म भी दूर हो जाते हैं। पाप, रज और तम का ही धर्म है। पाप, सत्व का धर्म नहीं। अतः ब्रह्म द्वारा या ब्रह्मोपासना द्वारा पाप दूर हो जाते हैं यह सिद्धान्त स्पष्ट है।

(४) नुत्तम् पद पर विशेष ध्यान देना चाहिये। इस पद से स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म अपने भक्तों के पापों को धकेलता है। अतः पापों को दूर करने में ब्रह्म, कृति-प्रधान-साधन (Active agent) है। अतः जिन लोगों की यह कल्पना है कि उपासना केवल Auto-suggestion (स्वोद्बोधन) द्वारा ही उपासक को फल देती है, वे भ्रम में हैं। उपासना में

स्वोद्बोधन के आंशिक सामर्थ्य से इन्कार किसी को नहीं। परन्तु उपासना का मुख्य प्रयोजन, उपास्य देव को प्रसन्न कर उस की प्रसन्नता का भाजन बनना ही है। जब परमात्मा उपासना द्वारा प्रसन्न हो जाते हैं, तो वे, भक्त के पापों को दूर करते और उस की सत्य मनोवाञ्छा को पूरा करते हैं। उपासना में परमात्मा के इस Active रूप का निर्देश करने के लिये ही मन्त्र में सुवतम् पद दिया प्रतीत होता है।

(५) जब मनुष्य पाप कर लेता है उस के बाद उस के मन में थोड़ा बहुत दुःख अवश्य होता है। और वह कहता है कि "बुरा हुआ" अर्थात् मैंने अच्छा नहीं किया। दुर्=बुरा, भूतम्=हुआ। मनुष्य पाप को दृष्टि में रख कर ही "दुर्भूतम्" कहता है। अतः पाप का नाम ही 'दुर्भूतम्' पड़ गया है।

(६) औषधि कोई तो एक बीमारी को दूर हटाती है कोई दूसरी को। परन्तु परमात्मा की भक्ति एक ऐसी औषध है जो कि सभी पापरूपी रोगों को दूर हटाती है। अतएव मन्त्र में 'सर्वम्' पद रक्खा है।

पाप निराकरण के उपाय

(५) पापवृत्ति को वशीभूत करना

अव मा पाप्मन् सृज वशी सन् मृडयासि नः। आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम्॥ अथर्व० ६। २६। १॥

(पाप्मन्) हे पाप! (मा) मुझे (अवसृज) छोड़ दे, (वशी) हमारे वशीभूत (सन्) होकर (नः) हम को (मृडयासि) सुखी कर। (मा) मुझे (अविह्रुतम्) कुटिलता से जुदा कर के (भद्रस्य) कल्याण और सुख के (लोके) लोक में (आधेहि) स्थापित कर॥ २२॥

भावार्थः—(१) जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी हत्यारे के चुंगल में फंसा हुआ, उस से छूटने के लिए किसी अन्य उपाय को हस्तगत न जान, उसी से अनुनय विनय करने लगता है इसी प्रकार की अवस्था का वर्णन इस मन्त्र में है। जब मनुष्य पाप की पकड़ से निकल नहीं सकता, परन्तु निकलना चाहता है तब वह पाप से ही छुटकारे के लिये विनय करता है कि हे पाप! तू कृपा कर, मुझे छोड़ जा। परन्तु जब वह विनय से भी नहीं मानता, तब छुटकारा पाने वाला धैर्य्यावलम्बन कर उसे अपनी इच्छाशक्ति के आधीन करना चाहता है, और कहता है कि तू हमारे वशीभूत हो, और वशी-

भूत होकर हम को सुखी कर। पापवृत्तियों को जब वश में कर लिया जाता है तब मनुष्य को सुख होता है। उस का चित्त शान्त और सन्तुष्ट हो जाता है। परन्तु इस प्रयत्न के करने के बाद भी पाप जब वशीभूत नहीं होता, तब मनुष्य पुनः अनुनय विनय का मार्ग पकड़ता है। और पाप से कहता है कि हे पाप ! तू कृपा कर, मुझे कुटिल मार्ग से पृथक् कर, मुझे भद्रमार्ग में स्थापित कर। इस प्रकार, पाप से छुटने की इस प्रथम अवस्था में, डांट डपट, अनुनय विनयरूपी साधन का ही आश्रय लेना पड़ता है। जिन लोगों ने अपनी पापमयी वृत्तियों के जीतने में कुछ भी प्रयत्न किया है, वे इस साधन की खूबी को अच्छे प्रकार समझ सकते हैं।

(२) पाप भी हमें पुण्य का रास्ता दिखलाता है। पाप जब अन्तिम कोटि तक पहुंच जाता है तब चित्त में प्रतिक्रिया (Re-action) पैदा होने लगती है। और पापी उस समय पुण्य मार्ग पर पग रखने लगता है। इसी अभिप्राय से मन्त्र में कहा है कि भद्रलोक में पहुंचाने की शक्ति पाप में भी है। भद्रलोक का अर्थ श्रेय और प्रेयमार्ग है।

(३) 'अविहृतम्' पद द्वारा यह सूचित किया गया है कि मन में जबतक कुटिलता रहती है तब तक मनुष्य भद्रलोक में नहीं जा सकता अर्थात् भद्र नहीं बन सकता। कुटि-

लता सब पापों का पूर्वरूप अर्थात् कारण हैं। कुटिलता का अर्थ है टेढ़ापन। मन जब सीधा अर्थात् अपनी स्वाभाविक अवस्था में होता है तब वह पापों की ओर नहीं झुकता। मन जब पाप करने में झुकता है तो उसे अपने स्वाभाविक रूप को छोड़ना पड़ता है और एक टेढ़ा रूप धारण करना पड़ता है। अतः मन को अपनी स्वाभाविक सरल अवस्था में रखना भी पापों से छूटने का उपाय है।

पाप निराकरण के उपाय

(६) दृढ़ संकल्प

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ॥ अथर्व० ६। २६। २॥

(पाप्मन्) हे पाप ! (यः) जो तू (नः) हम को (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है (तम्) उस (त्वा) तुझ को (वयम्) हम (उ) ही (जहिमः) छोड़ देते हैं ॥२३॥

भावार्थः--(१) इस मन्त्र में पाप के निराकरण के लिये दृढ़ संकल्प अथवा दृढ़ इच्छाशक्ति रूपी उपाय का अवलम्बन किया है। "यदि पाप हमें नहीं छोड़ता तो हम ही

पाप को छोड़ देते हैं" यह दृढ़ संकल्प का एक स्वरूप है। इस प्रकार का दृढ़ निश्चय कि "अब हम ने पाप को छोड़ दिया है" "पाप अब हमारे पास नहीं आवेगा" पापमयी वृत्तियों पर अवश्य विजय पा लेता है।

(२) मन्त्र में "नः" और "वयम्" पद आये हैं। इन से प्रतीत होता है कि यह मन्त्र पाप के विरुद्ध अनेक व्यक्तियों के युगपद् दृढ़ निश्चय की ओर भी निर्देश करता है। अर्थात् इस मन्त्र से स्पष्ट ज्ञात होता है कि "पापों के निराकरण के लिये कई मनुष्यों को चाहिये कि वे एक स्थान में बैठकर एक साथ मन की वृत्तियों को मजबूत करें और पुनः पाप न करने के लिये दृढ़ संकल्प करें तथा वृत्त्यारूढ़ पाप और उनके संस्कारों के समूल नाश के लिये दृढ़ेच्छा शक्ति का प्रयोग करें"। दृढ़ संकल्प की यह विधि वैदिक कर्त्तव्यशास्त्र का मूल है।

पाप निराकरण के उपाय

(७) यज्ञ और (८) सत्यसंकल्प

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु। एनो मा निगां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभिरक्षन्तु मेह॥ अथर्व० ५। ३। ४॥

(मम) मेरे (यानि) जो (इष्टा) किये हुए देवपूजन, सत्सङ्ग और दान हैं वे (मह्यम्) मुझे (यजन्ताम्) प्राप्त रहें, (मे) मेरे (मनसः) मन का (आकूतिः) संकल्प (सत्या) सत्य (अस्तु) हो। (अहम्) मैं (कतमत्) किसी (चन) भी (एनः) पाप को (मा) न (निगाम्) प्राप्त होऊं, (इह) इस विषय में (विश्वे) सब (देवाः) देव (मा) मेरी (अभिरक्षन्तु) पूर्ण रक्षा करें ॥ २४ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र द्वारा तीन इच्छाएँ प्रकट की गई हैं।

(१) मैंने भूतकाल में जो देवपूजन, सत्सङ्ग तथा दान किया है, उसे मैं अब भी करता रहूं, वे कर्म मुझे सर्वदा प्राप्त रहें, मैं उन्हें कभी मत छोडूं।

(२) मेरा मानसिक संकल्प सत्यरूप हो। मैं कभी असत्य संकल्प न करूं। जो इच्छाएं करूं वे सर्वदा सत्यरूप ही हों।

(३) मैं किसी भी पापकर्म को न करूं।

ये तीन इच्छायें हैं। सदिच्छाओं के करने से प्रवृत्तियां भी सत् होती हैं, क्योंकि इच्छा ही प्रवृत्ति का कारण है। देवपूजन, सत्सङ्ग और दान से प्रवृत्त्यात्मक विधिरूप धर्म का निर्देश किया है। इन में प्रवृत्त रहने से मनुष्य का चित्त एक

---

(१) इष्ट शब्द यज् धातु से बना है जिसके अर्थ देवपूजा, सत्संग और दान।

ओर लगा रहता है, अतः वह पापकर्मों की ओर नहीं झुकता। देवपूजन से अभिमान और दान से स्वार्थ का भाव भी शिथिल होजाता है। अभिमान और स्वार्थभाव स्वयं भी पापों की ओर ले जाने वाले हैं। इन के हट जाने से मन पापों से भी हट जाता है। सत्सङ्ग द्वारा सद्गुणों का संक्रम सत्संग करने वाले के चित्त में होता है। इस प्रकार देवपूजन, दान और सत्सङ्ग ये तीनों ही पापमार्ग से हटाने वाले हैं। देवपूजन, दान और सत्सङ्ग ये चेष्टारूप अर्थात् क्रियारूप धर्म हैं।

इस चेष्टारूप धर्म के साथ साथ इच्छारूप धर्म भी होना चाहिये। सत्य और शुभ इच्छाओं के करने और वारम्वार करने से भी मन पापों की ओर नहीं जाता। अतः चेष्टारूप सत्कर्म और सदिच्छा रूप सत्कर्म (सत्यसंकल्प) जब मिल जाते हैं तो वे अवश्य ही मनुष्य को पापकर्मों से हटा देते हैं। मैं किसी पापकर्म को न करूं, इस प्रकार की तीसरी इच्छा भी मनुष्य की पापकर्मों से रक्षा करती है। इस प्रकार की इच्छा भी पापकर्म की साक्षात् विरोधिनी है।

अतः उपरोक्त तीनों इच्छाओं के प्रबल हो जाने पर मनुष्य की फिर पापकर्मों में प्रवृत्ति नहीं होती। इन तीन इच्छाओं के होते हुए एक और वस्तु भी अपेक्षणीय है जो सदाचार के लिये अत्यावश्यक है। वह है "देवसंरक्षण"। दिव्य गुणों वाले सज्जनों की संरक्षा में रहना, उन द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलना, सदाचारी होने का

अतिसुगम और निश्चित उपाय है। इसीलिये वैदिक सिद्धान्त में सदाचार आदि की शिक्षा के लिये ब्रह्मचारी को आचार्य देव की संरक्षा में छोड़ने का विधान पाया जाता है।

पापनिराकरण के उपाय

(९) पापों में दोषदर्शन और (१०) पापों की कामना का त्याग

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये, वृक्षां वनानि संचर गृहेषु गोषु मे मनः॥ अथर्व० ६। ४५। १॥

(मनस्पाप) हे मानसिक पाप! (परः) दूर (अपेहि) हटजा, (किम्) क्यों (अशस्तानि) अप्रशस्त कामों की (शंससि) तू प्रशंसा-स्तुति करता है। (परेहि) दूर चला जा, (त्वा) तुझे (न,कामये) मैं नहीं चाहता, (वृक्षान्) वृक्षों और (वनानि) वनों में (संचर) फिरता रह, (मे) और मेरा (मनः) मन (गृहेषु) गृह-कृत्यों और (गोषु) गौ आदि पशुओं की सेवा में लगा रहे॥ २५॥

भावार्थः—(१) पाप तीन प्रकार के होते हैं। मन के, वाणी के और काय के। मानसिक पाप, वाणी और काय द्वारा किये

जाने वाले पापों के कारण हैं। मन में यदि कोई पाप नहीं तो वचन और काय भी पापरहित रहेंगे । अतएव इस मन्त्र में मानसिक पापों के हटाने का वर्णन है।

(२) पापरूपी जाल में फंसा हुआ मन सर्वदा अकर्तव्य कर्मों की प्रशंसा किया करता है । यथाः—"इस काम को कर लेना चाहिये" "यह काम अच्छा है" "देखो उसने भी किया था" "संसार में ऐसा ही चला आया है" "देखो संसार में ऐसे काम करने वाले कितने समृद्ध बने हुए हैं" इत्यादि कई शब्दों में मन पाप की प्रशंसा किया करता है।

(३) इस मन्त्र में मानसिक पाप को सम्बोधित किया है। उस के हटाने के लिए उसे कल्पना द्वारा मन के सन्मुख खड़ा किया है। और उस के लिये कहा है कि तू दूर हट जा, बुरे कार्यों की प्रशंसा मत कर, चला जा, मैं तुझे नहीं चाहता । इन और इस प्रकार के अन्य वाक्यों के वाग्भाषण अथवा मनोभाषण से प्रवक्ता के चित्त में पाप के विरुद्ध दृढ़ भावना पैदा हो जाती है। इस प्रकार से पापों के विरुद्ध यदि मनुष्य लगातार अभ्यास करेगा तो वह अवश्य ही उन पर विजय पा लेगा। इस प्रकार अभ्यास करते करते अभ्यासी के मन में पापों के लिये घृणा पैदा हो जाती है। अतः ऊपर कहे हुए प्रकार से प्रत्येक मनुष्य को अभ्यास करना चाहिये ।

(४) यह मन्त्र गृहस्थ के सम्बन्ध का प्रतीत होता है। यतः मन्त्र में "गृहेषु गोपु मे मनः" ये पद आये हैं। इन पदों से एक और सिद्धान्त भी सूचित किया है। वह यह कि "पापवृत्तियों के जीतने के लिये यह आवश्यक है कि मनुष्य सुस्त न बैठे। किसी न किसी उत्तम काम में अवश्य लगा रहे"। इसीलिये मंत्र में कहा है कि मेरा मन गृहकृत्यों और गोसेवा में लगा रहे। क्योंकि मानसशास्त्र का यह नियम है कि (क) मन निकम्मा नहीं रह सकता। (ख) उसमें दो भाव इकट्ठे नहीं रह सकते। (ग) तथा जिस भाव पर विजय पाना हो उस से विरोधी भाव को मानसस्थली म उपस्थित रखना चाहिये"। मन्त्र में के 'परेहि' 'न त्वा कामये' आदि सद्भाव पापभावों के विरोधी हैं। अतः पापवृत्तियों के हटाने के लिये ऐसे भावों को चित्त में स्थान देना चाहिये।

कामना की प्रबलता से अन्तः-शत्रुओं का पराजय

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान्। निरिन्द्रियाः अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः॥ अथर्व० ९।२।१०॥

(काम) हे इच्छा-शक्ति ! (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं उन को (त्वम्) तू (जहि) मार डाल, (एनान्) इन को (अन्धा=अन्धानि) गाढ़ (तमांसि) अन्धकार में (अवपादय) नीचे गिरा दे। (ते) वे (सर्वे) सब (निरिन्द्रियाः) इन्द्रियशून्य तथा (अरसाः) नीरस निर्वीर्य (सन्तु) हो जावें, और (कतमत्) किसी एक (अहः) दिन (चन) भी (मा) न (जीविषुः) जीवें ॥ २६ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में इच्छाशक्ति का सामर्थ्य बतलाया है। इस समग्र सूक्त का पढ़ना बहुत लाभकारी होगा। समग्र सूक्त ही इच्छाशक्ति की महिमा का वर्णन करता है। इस मन्त्र के आध्यात्मिक भाव पर विशेष ध्यान देना चाहिये। मनु महाराज ने ६ अन्तःशत्रुओं को गिनाया है। यथा (१) काम (२) क्रोध (३) लोभ (४) मोह (५) मद (६) अहंकार। ये ही ६ सपत्न हैं। सपत्न शब्द सपत्नी से बना प्रतीत होता है। सपत्नियों में पारस्परिक विरोध प्रसिद्ध है। चित्तरूपी पति की भी दो स्त्रियां हैं एक शुभवृत्ति और दूसरी अशुभवृत्ति। इन में भी परस्पर विरोध है। काम क्रोधादि ६ शत्रु अशुभवृत्तिरूप हैं। अतः ये मनुष्य या मनुष्य की शुभवृत्तियों के शत्रु हैं।

(२) मनु महाराज के दर्शाये ६ शत्रुओं में से काम का

अर्थ है शत्रुरूप काम अर्थात् विषय-कामना। परन्तु मन्त्रगत काम शत्रुरूप नहीं, वह परम मित्र है। इस काम का अर्थ है इच्छा-शक्ति। यह इच्छाशक्ति उपरोक्त ६ शत्रुओं का नाश कर सकती है। इन ६ शत्रुओं के हनन के लिये दृढ़ इच्छाशक्ति के सिवाय अन्य कोई उपाय नहीं। यम नियमादि साधनों का पालन भी दृढ़-इच्छा-शक्ति के विना नहीं हो सकता। दृढ़-इच्छाशक्ति ही इन ६ अन्तःशत्रुओं के नाश का अमोघास्त्र है।

(३) मंत्र में "निरिन्द्रियाः" का एक विशेष भाव है। कामादि अन्तःशत्रु इन्द्रियों द्वारा ही भोग भोगते या भुगवाते हैं। मन में रहते हुए भी जब तक ये इन्द्रियों पर अधिकार नहीं जमाते तब तक इन के विषय भोगे नहीं जा सकते। कामी के मन में काम-चेष्टा का भाव तो जागृत हुआ, परन्तु इस कुचेष्टा की इच्छा से प्रेरित हुआ मनुष्य जब तक काम के विषय को इन्द्रियारूढ़ नहीं करता, तब तक वह कामरूपी शत्रु द्वारा पराजित हुआ नहीं समझा जाता। परन्तु काम के विषय के इन्द्रियारूढ़ होते ही मनुष्य पूर्णरूप में काम से पराजित हो जाता है। इसी प्रकार क्रोधादि के विषय में भी जानना चाहिये। ये शत्रु भी काम की न्याईं अपनी अपनी इन्द्रियों को द्वार बनाकर ही अपने अपने विषयों का भोग कराते हैं। मनुष्यों को परास्त करने के लिये, इन्द्रियां मानो इन ६ शत्रुओं

के द्वार अर्थात् रास्ते हैं । इसीलिये मंत्र में "निरिन्द्रियाः" पद से इन शत्रुओं का वर्णन किया है । ये शत्रु निरिन्द्रिय हों। इन शत्रुओं का हमारी इन्द्रियों के साथ संबन्ध न हो । मार करने में ये इन्द्रिय-द्वारों के प्रभु न हों । अर्थात् उन की सत्ता केवल मन तक ही सीमित रहे वे इस सीमा को लांघ कर इन्द्रिय सीमा पर प्रहार न करें । उन का निवास केवल मनोभूमि में ही हो, वे इन्द्रियभूमि में अपना पग न रख सकें । इस प्रकार "निरिन्द्रियाः" पद से इन शत्रुओं के प्राबल्य रूप का निषेध किया है । भाव जो मन में उठ कर मन में ही लीन हो जाते हैं, उन की अपेक्षा वे भाव अधिक बली होते हैं जो कि मन में पैदा होकर बाह्य इन्द्रियों की क्रियाओं या व्यापारों में भी परिणत हो जाते हैं ।

(४) परन्तु कामादि की सत्ता इस निर्बल अर्थात् निरिन्द्रिय अवस्था में भी न रहनी चाहिये । निर्बल शत्रु समय पाकर प्रबल हो सकता है । अतः मन में भी इन का निवास सदाचार-शास्त्र की दृष्टि से अभीष्ट नहीं । इसी सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में "अरसाः" यह पद दिया है । शरीर में जब तक रस का संचार है तब तक जीवन है । रस प्राणशक्ति का सहचारी है । रस के क्षीण होते ही प्राणशक्ति भी जवाब देने लगती है । अतः रस, जीवन का प्रतिनिधि है । अतः

"ये शत्रु अरस हों" इस का अभिप्राय यही है कि इन शत्रुओं का नाश हो। ये सूख जायं। इन में रस बिलकुल न रहे। इन का प्राणान्त हो जावे। कुसंस्कार ही इन शत्रुओं के रस हैं। इसी रस से इन शत्रुओं के देह की स्थिति होती है। यदि मनोभूमि से इन कु-संस्कारों को निकाल दिया जावे तो ये शत्रु भी मनोभूमि को छोड़ जायंगे। अतः "अरसाः" पद से कुविचार तथा कुंसस्कार रूप से भी स्थित इन शत्रुओं के विनाश के लिये प्रेरित किया गया है। दृढ़-इच्छा-शक्ति के कुठार से, अन्तः-शत्रु रूपी वृक्ष की, कुसंस्कार रूपी जड़ भी काटी जा सकती है। इसलिये इस दृढ़-इच्छाशक्ति की प्राप्ति के लिये मनुष्य को अवश्य ही यत्नवान् होना चाहिये।

(५) मनुष्य को यत्न करना चाहिए कि ये शत्रु एक दिन भी जीवित न रह सकें। अर्थात् मनुष्य एक दिन भी कामादि के वशीभूत न हो। (कतमच्चनाहः) यह उत्तम जीवन का आदर्श है।

कामना दो प्रकार की है

(१) भद्र और (२) अभद्र

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्राः याभिः सत्यं भवति यद्वृणीषे । ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥ अथर्व० ६ । २ । २५ ।

(काम) हे कामना! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः) शुभ तथा (भद्राः) सुख और कल्याण के देने वाली (तन्वः) तनु हैं, (याभिः) जिन से (यद्) जो (वृणीषे) तू चाहती है वह (सत्यम्) सत्य (भवति) हो जाता है, (ताभिः) उन तनुओं के साथ (त्वम्) तू (अस्मान्) हम में (अभिसंविशस्व) अच्छे प्रकार प्रवेश कर । और (पापीः) पापयुक्त (धियः) विचारों को (अप) हम में से निकाल कर (अन्यत्र) अन्यत्र कहीं (वेशया) प्रविष्ट कर ॥ २७ ॥

भावार्थः-(१) इस मंत्र में इच्छा का ही वर्णन है । इच्छा की तनु अर्थात् देह दो प्रकार की है । यहां तनु का अर्थ है, स्वरूप अथवा प्रकार । अतः अभिप्राय यह हुआ कि इच्छा के दो स्वरूप हैं या इच्छा दो प्रकार की है । एक शुभ

(१) कमु कान्तौ, कान्तिरिच्छा ॥

और दूसरी अशुभ। एक शिव और दूसरी अशिव। एक भद्र और दूसरी अभद्र। इच्छा के इन दो प्रकारों का वर्णन व्यास ऋषि ने योगभाष्य में निम्नलिखित रूप से किया है। "चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी, वहति कल्याणाय च वहति पापाय च" योगदर्शन १। १२॥ इस का अभिप्राय यह है कि चित्त एक नदी है जो दो ओर बहती है। कल्याण की ओर और पाप की ओर। मन्त्र नें भी काम अर्थात् इच्छा के दो रूप दर्शाये हैं। एक "शिवास्तन्वः" इन शब्दों से और दूसरा "पापी धियः" इन शब्दों से। शिव का अर्थ होता है कल्याण और पाप पद मंत्र तथा योगभाष्य दोनों में समान है।

(२) मन्त्र में यह भी कहा है कि शुभ इच्छाओं में बहुत बल होता है। शुभ इच्छाओं वाला मनुष्य जो चाहता है वह पूरा हो जाता है। इसीलिये मन्त्र में "सत्यं भवति यद्वृणीषे" कहा है। पापी जन की इच्छाओं में वह बल नहीं होता। योग की आश्चर्यकारी सिद्धियां भी इसी शुभ इच्छा के परिणाम हैं। अतः शुभ इच्छाओं की प्राप्ति और अशुभ इच्छाओं का त्याग नित्य करना चाहिये।

संसार-ग्राह से बचने का उपाय

संसार में लिप्त न होना

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि । यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ अथर्व० १४ । १ । ३८ ॥

(अहम्) मैं (इदम्) इस (रुशन्तम्) चमकीले भड़कीले (तनूदूषिम्) शरीर को दूषित करने वाले (ग्राभम्) संसार-ग्राह को (अपोहामि) त्यागता हूँ। (यः) जो (भद्रः) सुखकर और कल्याणमय तथा (रोचनः) रुचिररूप है (तम्) उसको (उत्) उत्तम होकर (अचामि) प्राप्त होता हूँ ॥ ३८ ॥

भावार्थः—ग्राभ पद में ग्रह् धातु है। वस्तुतः यह ग्राह शब्द है। ह को भ हो गया है। ग्राह का अर्थ नाका (मगरमच्छ) होता है। इस मन्त्र में संसार का ग्राहरूप से वर्णन है।

(१) यह संसारग्राह बड़ा चमकीला भड़कीला है। वह अपनी चमक से जनता को अपनी ओर खींच लेता है।

(२) जो मनुष्य इस संसारग्राह की ओर खिच जाते हैं उन की देह दूषित होजाती है। भोग का यह परिणाम स्वाभाविक ही है

(३) और अन्त में वे भोगी इस संसार-ग्राह के मुख के ग्रास बनकर नष्ट हो जाते हैं। रुश् का अर्थ हिंसा भी है। जिस से यह भाव सूचित होता है कि चमकीला संसार-ग्राह हिंसक है। यह हुआ प्रेयमार्ग का वर्णन।

श्रेयमार्ग का वर्णन मन्त्र के अगले आधे भाग में है। प्रकृति में न फंस कर परमात्मा की ओर झुकना यह श्रेयमार्ग है। परमात्मा भद्र है, रुचिर है। उस को प्राप्त होने के लिये प्रथम संसार-ग्राह का त्याग करना चाहिये। इस प्रकार मनुष्य प्रथम अपने आप को उत्तम बना कर, पुनः उस परमात्मा की प्राप्ति कर सकता है।

परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि संसार का त्याग क्या वैदिक सिद्धान्तानुकूल है?। उत्तर है, नहीं। अपितु संसार साधन है परमात्मा की प्राप्ति का। संसार परमात्मा का निवास-गृह है। संसार और परमात्मा ये दो विरोधी मार्ग नहीं।

तो पुनः इस मन्त्र में संसार-त्याग के लिये क्यों प्रेरित किया?। उत्तर यह है कि मंत्र में संसार-त्याग के लिये कोई प्रेरणा नहीं। संसार को ग्राह नहीं बनने देना चाहिये, केवल इतना ही मन्त्र में कहा है। ग्राहरूपी संसार का त्याग करना चाहिये; न कि अग्राह-रूपी संसार का भी। संसार में ग्राहपन न आने दो;

संसार-त्याग का यही अभिप्राय है। संसार के भोगने से संसार ग्राह नहीं बनता, अपितु संसार के भोगों में लिप्त होने से संसार ग्राह बन जाता है। यह न होने देना चाहिये। यही मन्त्र का अभिप्राय है।

ईर्षा मननशक्ति को मार देती है

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा। यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः॥ अथर्व० ६। १८। २॥

(यथा) जैसे (भूमिः) पृथिवी (मृतमनाः) मननशक्ति से शून्य है, (मृतात्) मुर्दे से भी अधिक (मृतमनस्तरा) मननशक्ति से शून्य है। (उत) तथा (यथा) जैसे (मम्रुषः) मरे हुए का (मनः) मन होता है (एवा) इसी प्रकार (ईर्ष्योः) ईर्षा करने वाले का (मनः) मन (मतम्) मरा हुआ होता है॥ २६॥

भावार्थः—(१) ईर्ष्या कहते हैं "पराभ्युदयासहनम्" दूसरे के अभ्युदय अर्थात् उन्नति को न सहना ईर्ष्या कहाती है।

(२) ईर्षा की चित्तवृत्ति से बहुत हानियां होती हैं। यथा-(क) वेद में ईर्षा को "हृदय्य अग्नि" अथर्व० ६। १८। १॥ कहा है। हृदय्य अग्नि का अर्थ है हृदय की आग। ईर्षा वा-

स्तव में अग्निरूप है। यह प्रेमभाव को भस्मीभूत कर देती है। (ख) मनुष्य ईर्ष्यावद्ध होकर कर्तव्य और अकर्तव्य के विवेक से शून्य हो जाता है। (ग) ईर्ष्यावृत्ति के कारण मनुष्य में न्यायवृत्ति नहीं रहती। (घ) और इस में स्वार्थ की मात्रा दिनों दिन बढ़ती जाती है। (ङ) वह दूसरे को नुक़सान पहुंचाने में धर्माधर्म के मार्ग का ख्याल नहीं करता। (च) लोकलज्जा की भी उसे परवाह नहीं रहती।

(३) ईर्ष्या का ऐतिहासिक दृष्टान्त यदि चाहिये तो हम दुर्योधन को पेश कर सकते हैं। उस के सुवीर होते हुए भी, जो वह दुर्गुणों की खान बना हुआ था, उस में मूल उस का ईर्ष्याभाव ही था। अतः ईर्ष्या से सर्वदा दूर रहना चाहिये।

(४) ईर्ष्या से मन मारा जाता है। ईर्ष्यालु में मननशक्ति नहीं रहती। मननशक्ति और विचारशक्ति का अभिप्राय एक ही है। इस अवस्था को समझाने के लिये मन्त्र में दो दृष्टान्त दिये हैं, एक तो भूमि का और दूसरा मृत्रुप का। भूमि अर्थात् मट्टी में मननशक्ति नहीं होती। मट्टी में कभी भी मननशक्ति नहीं हुई वह मृतमना है। उस में मननशक्ति हमेशा से मरी हुई है। अतएव वह मृतों से भी मृतमनस्तर है। मृतों में मरने से पूर्व तो मननशक्ति रहती ही है। मरने पर

उन में मननशक्ति नहीं रहती। मट्टी मरे हुओं की अपेक्षा भी अधिक मरे हुए मन वाली है। यतः इस के साथ मननशक्ति का कभी भी सम्बन्ध नहीं हुआ। मट्टी में मननशक्ति का लेशमात्र भी नहीं। अतः वह मृतान्मृतमनस्तर है। वह मनुष्य जो प्रथमतः ही ईर्ष्यालु है, जिस में ईर्ष्या के कारण मननशक्ति का अंकुर उगा ही नहीं, वह मट्टी के समान है। मट्टी जिस प्रकार विचार शक्ति से हमेशा से शून्य है वैसे ही वह मनुष्य भी विचार शक्ति से हमेशा से शून्य रहता है जो उत्पत्ति काल से ही ईर्ष्यालु है। दूसरा दृष्टान्त है मत्रुप का। मत्रुप का अर्थ है मर गया हुआ। जो कि पहिले जीवित था, पर अब जीवित नहीं। अर्थात् जिस में जीवितावस्था में मन काम करता था, परन्तु अब मृतावस्था में वह काम नहीं करता। इसी प्रकार की अवस्था उस मनुष्य की हो जाती है जो कि पहिले तो ईर्ष्यालु न था, किन्तु अब किसी कारण से ईर्ष्या वाला हो गया है। मनुष्य जब तक ईर्ष्यालु नहीं तब तक वह जीवित मनुष्य के समान है जिस में कि मन कार्य कर रहा है; परन्तु मनुष्य जब ईर्ष्यालु हो जाता है तब वह उस मनुष्य के समान हो जाता है, जो कि मरा हुआ है। जिस में अब मन काम नहीं करता। जो कि अब लोथमात्र शेष रह गया है। वास्तव में ईर्ष्यालु मनुष्य मट्टी और लोथ के समान है। ईर्ष्यालु मनुष्य का मन बिलकुल मारा जाता है। ईर्ष्या से ज-

कड़े रहने के कारण उस के मन का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। अतः ईर्ष्यावृत्ति से अवश्य छुटकारा पाना चाहिये।

वैदिक मेधा से दिव्य गुणों की रक्षा

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम्
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिः देवानामवसे हुवे ॥ अथर्व० ६।१०८।२॥

(अहम्) मैं (प्रथमाम्) अनादि (ब्रह्मण्वतीम्) वेद-प्रतिपादित (ब्रह्मजूताम्) ब्रह्मज्ञानियों द्वारा सेवित (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों द्वारा प्रशंसित (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रपीताम्) अच्छे प्रकार पान की गई (मेधाम्) मेधा को (देवानाम्) दिव्यगुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हुवे) आह्वान करता हूं ॥ ३० ॥

---

(१) जूति का अर्थ है—गति तथा प्रीति, निरु० १०।२८॥ (२) पा=पीना।

भावार्थः—इस मन्त्र में उस मेधा का वर्णन किया है जिस का वेद में प्रतिपादन है। वह अनादि काल से वर्तमान है चूंकि वेद अनादि हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग ऐसी मेधा का ही सेवन करते हैं। ऋषिजन ऐसी मेधा की ही स्तुति करते हैं। ब्रह्मचारी इसी वैदिक मेधा की प्राप्ति के लिये तप तथा ब्रह्मचर्यव्रत में निष्ठावान् होते हैं। इसी मेधा की प्राप्ति से हम में दिव्यगुण आ सकते हैं। मनुष्यगत दिव्यगुणों की रक्षा इस मेधा की प्राप्ति के विना असम्भव है। इस वैदिक मेधा की प्राप्ति के लिये वेदों का स्वाध्याय नित्य करना चाहिये।

मन, वाणी और कर्म में मधुरता

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ अथर्व० १। ३४। २ ॥

(मम) मेरी (जिह्वायाः) जिह्वा के (अग्रे) अगले भाग पर (मधु) मधु हो, (जिह्वामूले) और जिह्वा की जड़ में (मधूलकम्) माधुर्य्य हो। हे माधुर्य्य ! तू (मम) मेरे (क्रतौ[1]) कर्म में (अह) अवश्य (इत्) ही (असः) हो, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू प्राप्त होता है ॥ ३१ ॥

---

(१) क्रतु=कर्म, निघं० २। १ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में यह दर्शाया है कि माधुर्य की प्राप्ति के लिये दृढ़-इच्छा-शक्ति या दृढ़-संकल्प का प्रयोग करना चाहिये। यदि मनुष्य दृढ़-संकल्प करले कि मैंने कभी भी कटु-वचन नहीं बोलने, सर्वदा मधुर वचन ही बोलने हैं, तो वह मनुष्य कटुवचनों पर या अपनी वाणी पर अवश्य विजय पालेगा।

(२) मन्त्र में जिह्वा, क्रतु और चित्त इन तीन का वर्णन है। परन्तु इनका आर्थिक क्रम निम्नप्रकार से होना चाहिये, चित्त—जिह्वा—क्रतु। जैसे कि कहा है "*यन्मनसा मनुते तद्वाचा वदति यद्वाचा वदति तत्कर्मणा करोति*"। अर्थात् मनुष्य मन से जिस का मनन करता है उसे वह वाणी द्वारा बोलता है, और जो वाणी द्वारा बोलता है उसे कर्म से करता है। मन्त्र में चित्त शब्द से मन का, जिह्वा से वाणी का और क्रतु से कर्म का ग्रहण करना चाहिये। अतः इस मन्त्र में मन, वाणी, और कर्म इन तीनों की मधुरता का वर्णन है। इस मधुरता के लिये किसी बाह्य औषध की आवश्यकता नहीं। और न कोई ऐसी बाह्य औषध है भी कि जिस के खान पान से मनुष्य दूसरों के लिये भला सोचने, बोलने और करने लग जाय। इस के लिये तो आन्तरिक औषध ही चाहिये। उसी के निरन्तर श्रद्धापूर्वक सेवन से मधुरता हमें मिल-

सकती है । वह आन्तरिक औषध, दृढ़ इच्छा-शक्ति या दृढ़ संकल्पमात्र ही है ।

माधुर्यमय जीवन

मधोरस्मि मधुतरो मदुघान्मधुमत्तरः । मामित्किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव ॥ अथर्व० १ । ३४ । ४ ॥

(मधोः) मधु से (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) मैं हूं, (मदुघान्) मधुभरे पदार्थ से (मधमत्तरः) मैं अधिक मधुर हूं । हे मधु ! (त्वं) तू (माम्) मुझ को (इत्) अवश्य (वनाः) प्राप्त हो, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधु वाली (शाखाम्) शाखा को मधु प्राप्त होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थः—मधु का अर्थ है शहद, जिसे माख्यों भी कहते हैं । मनुष्य अपने चित्त में ऐसी भावना करे कि मैं वास्तव में शहद से भी मीठा हूँ । और शहद-भरे पदार्थ से भी अधिक मीठा हूँ । जो पदार्थ अङ्ग-प्रत्यंग में शहद से व्याप्त हो रहा है मैं उस से भी अधिक मधुर हूँ ऐसी भावना करने पर मनुष्य अवश्य ही अपने विचारों, वचनों और कर्मों में मधुर बन जायगा । भावना में बड़ी शक्ति होती है । प्रबल भा-

वना के फलों का यदि अनुभव करना हो तो योगदर्शन का सिद्धि-पाद देखो। मनुष्य को अपने हरएक अवयव को ऐसा मधुर बनाना चाहिये जैसे किसी मधुभरी शाखा का प्रत्येक अवयव। विना मधुरता के यह देह नीरस स्थाणुरूप है।

चेष्टा, स्वाध्याय और वाणी में माधुर्य

मधुमन्मे विक्रमणं मधुमन्मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः ॥ अथर्व० १। ३४। ३ ॥

(मे) मेरा (विक्रमणम्) पादविक्षेप अर्थात् चलना फिरना (मधुमत्) मधुर हो, (मे) मेरा (परायणम्) स्वाध्याय (मधुमत्) मधुर हो। (वाचा) वाणी से (मधुमत्) मधुर (वदामि) मैं बोलता हूँ, (मधुसंदृशः) मधुदृष्टि या मधु के सदृश (भूयासम्) मैं हो जाऊँ ॥ ३३ ॥

भावार्थः—(१) इस मंत्र में भी भावना का वर्णन है मधुर बनने की भावना को प्रबल बनाना चाहिये। चलने फिरने, उठने बैठने में मधुरता होनी चाहिये।

(२) स्वाध्याय में मधुरता का अभिप्राय है कर्कश आवाज़ से न पढ़ना। पढ़ने में अतिशीघ्रता, अस्पष्टोच्चारण, शब्दों का मध्य मध्य में अनुच्चारण आदि दोष भी स्वाध्याय में माधुर्य गुण के विरोधी हैं।

(३) वाणी से भी मीठा बोलना चाहिये।

(४) क्रूरदृष्टि मनुष्य मधुरदृष्टि नहीं हो सकते। मधुरदृष्टि वे मनुष्य होते हैं जिनकी आंखों से प्रेमधारा निकले। मनुष्य के प्रत्येक अङ्ग में मधुरता होनी चाहिये। उसे अपने आप को मधुरूप बनाना चाहिये। मधु जिस प्रकार मीठा होता है उसी प्रकार व्यवहार में जिस के सारे अङ्ग दूसरों के लिये मीठे हैं वह मधुरूप कहलाता है।

जीवन की सात मर्यादाएं

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरोऽगात्। आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ॥ अथर्व० ५। १। ६॥

(कवयः) ऋषियों ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादाएं अर्थात् सीमाएं (ततक्षुः) बनाई हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्) एक को (इद्) भी (अभ्यगात्) जो प्राप्त होता है वह (अंहुरः) पापी होता है। (स्कम्भः स्कम्भरूप परमात्मा (उपमस्य) उपमीभूत (आयोः मनुष्य के (नीडे) हृदयरूपी घोंसले में, (पथां) मार्गों

की (विसर्गे) समाप्ति पर और (धरुणेषु) धारक वस्तुओं में (तस्थौ) स्थित है ॥ ३४ ॥

भावार्थः—(१) मनुष्य के जीवन के लिये वेद ने ७ मर्यादाएं निश्चित की हैं। जिनका वर्णन यास्कमुनि ने निरुक्त में किया है। वे निम्नलिखित हैं—(१) स्तेय=चोरी, (२) तल्पारोहण=व्यभिचार, (३) ब्रह्महत्या=नास्तिकता, (४) भ्रूण-हत्या=गर्भघात, (५) सुरापान=शराब पीना, (६) दुष्टस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवा=दुष्ट कर्म का वार वार सेवन, (७) पातकेऽनृतोद्यम्=पाप करने के बाद उसे छिपाने के लिये झूठ बोलना। मर्यादा कहते हैं सीमा को। कर्तव्य-शास्त्र की ये सात सीमाएं हैं। कर्तव्य-शास्त्र इन सीमाओं के अन्दर रहता है। इन हदों का अतिक्रम न करना सत्कर्तव्य या धर्म है।

(२) इन मर्यादाओं में से एक मर्यादा का भी जो उल्लंघन करता है वह पापी होता है।

(३) जो इन सातों मर्यादाओं में रहता है वह परमात्मा का उपम अर्थात् अधिक सदृश बन जाता है। परमात्मा में और उस में परस्पर उपमानोपमेय भाव हो जाता है।

(४) परमात्मा जो स्कम्भरूप अर्थात् भुवनप्रासाद का स्तम्भरूप है, वह उपमीभूत मनुष्य के हृदय-नीड़ में रहता है।

इसी हृदय-मन्दिर में मर्यादाबद्ध मनुष्य परमात्मा का भजन और उस का प्रत्यक्ष कर सकता है।

मनुष्य के हृदय में ही परमात्मा का भान क्यों होता है, इस प्रश्न के उत्तर के लिये ही मंत्र में "उपमस्य" यह पद दिया है। जीवात्मा की उपमा परमात्मा से और परमात्मा की जीवात्मा से है। ये दोनों ही अप्राकृतिक हैं, प्रकृति से विलक्षण हैं। इसीलिये वेद तथा उपनिषदों में प्रकृति-वृक्ष पर बैठे पक्षियों से जीवात्मा और परमात्मा को रूपित किया गया है। रूपक का अभिप्राय यही है कि जीवात्मा और परमात्मा परस्पर सदृश हैं और प्रकृति से विलक्षण हैं। तभी तो जीवात्मा और परमात्मा में परस्पर सादृश्य, अर्थात् उपमानोपमेय भाव है। जब साधारण जीवात्मा जो कि मनुष्य की देह में है, परमात्मा के साथ सादृश्य रखता है, तब मनुष्य का वह आत्मा तो, जिसने कि सात मर्यादाओं में रह कर अपने आप को पवित्र कर लिया है, अवश्य ही परमात्मा का उपमीभूत होना चाहिये।

(५) परमात्मा पथों की समाप्ति पर है। सभी धर्मपन्थों का केन्द्र-स्थान वेद है। इसी केन्द्र से धर्म के भिन्न भिन्न पथ निकले हैं। इन सब पथों का विसर्ग अर्थात् समाप्ति वेद पर होती है। इसी समाप्ति पर परमात्मा बैठा हुआ है। अर्थात् परमात्मा के सत्यस्वरूप का ज्ञान सब धर्मपथों के केन्द्रीभूत वेदों द्वारा ही

सम्भव है। "पथां विसर्गे" का एक और अभिप्राय भी सम्भव है। वेदों में जगत् और ब्रह्म में व्याप्यव्यापकता दिखलाई है। जगत् व्याप्य और ब्रह्म व्यापक है। ब्रह्म में जगत् व्यापक नहीं। अपि तु सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म के एकदेश में विद्यमान रहता है। इसी आशय को अधिक स्पष्ट करने के लिये वेदों में ब्रह्म और जगत् की दैशिक सत्ता का दृष्टान्त नीड और वृक्ष दिया जाता है। उसमें ब्रह्म को वृक्ष और जगत् को नीड बताया है। नीड कहते हैं घोंसले को। घोंसला वृक्ष के एक देश पर आश्रित रहता है और वृक्ष घोंसले से बहुत बड़ा होता है। इसी प्रकार परमात्मा रूपी वृक्ष इस जगत् रूपी नीड का आश्रय है और जगत् से बहुत बड़ा है। ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र, तारादिकों के समुदाय को ही जगत् कहते हैं। ये ग्रह नक्षत्रादि अपने अपने नियत पथों पर घूम रहे हैं। इन में से कोई भी विपथगामी नहीं होता। अतः जहां जहां जगत् की सत्ता है वहां वहां हम पथों की सत्ता की कल्पना भी कर सकते हैं। परन्तु जहां जगत् की अन्तिम सीमा है, जिस से परे जगत् की सत्ता नहीं, वहां पृथिव्यादि के घूमने का कोई पथ भी नहीं, यह स्पष्ट है। वह स्थान 'पथां विसर्ग' है। वहां पथों का विसर्ग अर्थात् समाप्ति हो जाती है। उस से आगे कोई पथ नहीं। परन्तु परमात्मा वहां भी विद्यमान है। अतः परमात्मा की स्थिति 'पथां विसर्ग' पर भी है।

(६) वह स्कम्भ रूप परमात्मा धारक पदार्थों में भी स्थित है। स्कम्भ का अर्थ है—धारण करने वाला, थामने वाला। परमात्मा के स्कम्भरूप का वर्णन अथर्व० १०, ७ में बहुत उत्तम शब्दों में किया है। सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, तारा, वायु, पृथिवी आदि पदार्थ संसार में धारक रूप से प्रसिद्ध हैं। ये सब प्राणी जगत् के तथा परस्पर के धारण करने वाले हैं। परमात्मा इन धारकों का भी धारक है। वह इन धारकों में भी स्कम्भरूप (धारक रूप) से स्थित है। अर्थात् संसार का मूलाधार या मूलधारक परमात्मा ही है। अतः भक्ति, उपासना और मनन इसी महान् शक्ति का करना चाहिये। चूंकि यह सर्वोच्च है, सर्वश्रेष्ठ है, सर्वाधार है।

सत्य और प्रियभाषण

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि यदीक्षे तद्वनन्ति मा। त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ अथर्व० १२। १। ५८ ॥

(यद्) जो (वदामि) मैं बोलता हूं (मधुमत्) मीठा बोलता हूं, (तद्) वह (वदामि) बोलता हूं (यदीक्षे) जो देखता हूं, (तद्) वह (मा) मुझ को (वनन्ति) उपदेश

(१) वन शब्दे। पैप्पलाद शाखा में वनन्ति के स्थान

देते हैं। (त्विषीमान्) तेजस्वी (अस्मि) हूं, (जूतिमान्) क्रियाशील हूं, (दोधतः) क्रोधी (अन्यान्) शत्रुओं को (अवहन्मि) मार गिराता हूं ॥ ३५ ॥

भावार्थः—(१) यदीद्वे—मनुष्य कैसा बोले यह प्रश्न है ?। मन्त्र में उत्तर दिया है कि जैसा देखे वैसा बोले उलटा न बोले। अर्थात् सदैव सत्य बोले। (२) मधुमत्ः—प्रश्न हो सकता है कि क्या सत्य को कड़वे रूप में भी बोल दे, उत्तर है, नहीं। अपितु मीठा बोले। कड़वा न बोले। इस प्रकार बोले कि सत्य भी हो और मीठा भी हो।

(३) त्विषीमान्ः—मनुष्य तेजस्वी बने। सत्य के पालन से मनुष्य में तेज आ जाता है। इस तेज की प्राप्ति अवश्य करनी चाहिये।

(४) जूतिमान्ः—मनुष्य को क्रियाशील होना चाहिये। सुस्त होना और समय खराब करना मनुष्य के लिये उचित नहीं।

(५) दोधतः—क्रोधी शत्रुओं का नाश भी करना

में "वदन्तु" पाठ है। अन्य पुस्तकों में "वदन्ति" पाठ भी मिलता है ॥ (१) जू गतौ ॥ (२) दोधतिः क्रुध्यतिकर्मा, निघं० २ । १२ ॥

चाहिये। जिन के स्वभाव में ही क्रोध है ऐसे शत्रुओं के साथ उदासीनता या क्षमावृत्ति नहीं रखनी चाहिये।

सत्यवचनों के पुजारी बनो

को अद्य युंक्ते धुरि गाः ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात्॥ अथर्व० १८। १। ६॥

(कः) कौन (अद्य) आज कल (शिमीवतः) कर्म वाले (भामिनः) तथा तेजःस्वरूप (ऋतस्य) सत्य की (धुरि) धुरा में (दुर्हृणायून्) रोषयुक्त तथा (आसन्) मुख में (इषून्) बाणरूप (हृत्स्वसः) परन्तु हृदयों में लग जाने वाली (मयोभून्) [और परिणाम में] सुखोत्पादक (गाः) वाणियों को (युंक्ते) जोड़ता है, (यः) जो मनुष्य (एषाम्) इन वाणियों की (भृत्याम्) नौकरी [सेवा या धारणा] (ऋणधत्) करता है (सः) वह (जीवात्) जीता है॥ ३६॥

---

(१) शिमी=कर्म, निघं० २। १॥ (२) भा दीप्तौ॥
(३) निघं० १। १७॥
(४) गो=वाणी, निघं० १। ११॥
(५) ऋणद्धिः परिचरणकर्मा, निघं० ३। ५॥

भावार्थः—(१) मन्त्र में ऋत का वर्णन गाड़ी रूप से किया गया है। धूः का अर्थ है—धुरा अर्थात् जुआ। गाः के दो अर्थ हैं, बैल और वाणियां। गाड़ी को चलाने के लिये गाड़ी की धुरा में बैल बांधे जाते हैं। ऋतरूपी गाड़ी के चलाने के लिये भी ऋत—गाड़ी के आगे वाणी रूपी बैलों को लगाना पड़ता है। ऋत अर्थात् सत्य के प्रचार के लिये ऋत की धुरा में वाणियां ही जुड़ती हैं। वचन द्वारा ही सत्य का प्रचार हो सकता है। सत्य की गाड़ी को, एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति तक पहुंचाने के लिये, वचन रूपी बैलों की आवश्यकता होती है। चूंकि सच्चाई का प्रकाश वचनों द्वारा ही होता है।

(२) मन्त्र में ऋत के दो विशेषण दिये हैं—

(क) शिमीवतः, (ख) भामिनः। ये दोनों पद षष्ठी विभक्ति के एकवचन के रूप हैं, अतः 'ऋतस्य' के विशेषण हैं।

क—शिमीवान् का अर्थ है 'कर्मवाला'। शिमीवान् पद से सत्य का लक्षण किया गया है। सत्य वह है जो शिमीवान् है। रज्जु में हमें सर्प का ज्ञान हुआ। यह ज्ञान सत्य नहीं। क्योंकि यह ज्ञान कर्मवाला नहीं। यह ज्ञान कर्मवाला तब होता जब कि इस ज्ञान द्वारा दिखाये गये सर्प में सर्प के काम होते। अर्थात् यदि रज्जु में सर्प के गुणधर्म रहते। यतः सर्प के गुण-

धर्म रज्जु में नहीं अतः रज्जु में सर्प का ज्ञान भी सत्य नहीं। प्रत्येक ज्ञान का पर्यवसान कर्म में होता है। ज्ञान से हान (अनुपादेय जानकर छोड़ देना), उपादान (उपादेय जानकर ग्रहण कर लेना) या उपेक्षा (न लाभकर है, न हानिकर, यह जानकर उस वस्तु की उपेक्षा करना) हुआ करते हैं। रज्जु में जब सर्प का ज्ञान हुआ तब सर्पदृष्टि से यद्यपि वह रज्जु तात्कालिक हान का विषय बन जाती है, परन्तु प्रकाशादि की उपस्थिति होते ही वह रज्जु सर्प-ज्ञान का विषय भी नहीं रहती। परन्तु सर्प में सर्पज्ञान होने से प्रकाशादि के होने पर भी उस में हानबुद्धि बनी ही रहती है। उस बुद्धि का नाश प्रकाश की उपस्थिति में भी नहीं होता। अतः सर्प में सर्पबुद्धि तो सत्य है और रज्जु में सर्प-बुद्धि असत्य है। चूंकि पूर्व-बुद्धि कर्म वाली और दूसरी बुद्धि कर्म से शून्य है। अर्थात् पूर्वबुद्धि ने जो सर्प दिखाया है वह सर्प सर्प के कार्यों को कर सकता है और दूसरी बुद्धि ने जो सर्प दिखाया है वह सर्प सर्प के कार्यों को नहीं कर सकता। सत्य की परख कार्य से ही हुआ करती है। अतः सत्य वह है जो शिमीवान् है। इसी लक्षण को बौद्ध लोग "अर्थक्रियाकारित्वं सत्यत्वम्" इन शब्दों द्वारा निर्दिष्ट करते हैं।

(ख) सत्य का दूसरा विशेषण है—'भास्वितः'। अर्थों का

अर्थ है "तेजयुक्त"। भा=दीप्ति, यथा प्रभा। सत्य, प्रकाश-स्वरूप है। और असत्य, अन्धकारस्वरूप। प्रकाश अन्धकार पर अवश्य विजय पाता है, इस सिद्धान्त के दर्शाने के लिये मन्त्र में सत्य का 'विशेषण' भामिनः दिया है। इस लिये ऊपर कहे दो विशेषणों से सत्य के दो गुण दिखाये हैं—(१) सत्य फर्म वाला है, (२) सत्यमार्ग प्रकाश का मार्ग है।

(३) बचे हुए विशेषण गाः पद के हैं। यथा—

(क) दुर्हृणायून्, (ख) आसन्निपून्, (ग) ह्वलस्वसः, (घ) मयोभून्। मन्त्र में गाः पद पुलिङ्ग है अतः इसके विशेषण भी पुलिङ्ग में रक्खे हैं। गाड़ी के आगे गौओं का लगाना वैदिक-सिद्धान्त के विरुद्ध है। गाड़ी के आगे बैलों को लगाना चाहिये न कि गौओं को। गाः पद के विशेषणों के अभिप्राय यथाक्रम निम्नलिखित हैं—

(क) दुर्हृणायून्। दुर् का अर्थ है—बुरा। हृणीङ् धातु का अर्थ है—रोष और लज्जा। वर्तमान स्थल में केवल रोष अर्थ का ग्रहण संगत प्रतीत होता है। अतः दुर्हृणायु का अर्थ हुआ—बुरे रोषवाली या अधिक रोषवाली। सत्य की वाणियों में यतः छल कपट नहीं होता, वे ऋजु होती हैं, अतः वे उग्र या कठोर प्रतीत होती हैं। सत्यवादी यह परवाह नहीं करता कि उसकी वाणियां दूसरों को बुरी लगेंगी या अच्छी।

वह सत्य का प्रचार करता ही है। और चूँकि सर्वसाधारण जनों का व्यवहार असत्य पर अवलम्बित रहता है, अतः उन्हें सत्यवादी के वचन कठोर और रोषयुक्त प्रतीत होते हैं।

(ख) गाः का दूसरा विशेषण है—आसन्निषून्। आसन् पद अस्य शब्द की सप्तमी विभक्ति का रूप है। इषु का अर्थ है—बाण। अतः "आसन्निषून्" का अर्थ है—मुख में बाणरूप। सत्यवाणियों का यह स्वरूप वास्तव में यथार्थ है। सत्य वाणियां जब मुख में होती हैं अर्थात् जब वे बोली जाती हैं, तब असत्यवादियों को वे बाण के समान प्रतीत होती हैं। अतः सत्य वाणियों का यह विशेषण भी उचित ही है।

(ग) गाः का तीसरा विशेषण है—हृत्स्वसः। हृत्सु का अर्थ है—हृदयों में, और असः का अर्थ है—फेंके गये। अतः हृत्स्वसः का अर्थ हुआ—हृदयों में फेंके गये। सत्यवचन, बोलते समय भले ही कटु या कठोर प्रतीत हों तो भी श्रोता अपने हृदयों में उन वचनों की सचाई को अवश्य मानते हैं। वे वचन श्रोताओं के हृदयों में अवश्य फेंके जाते हैं। अर्थात् वे वचन उन के हृदयों में अवश्य घर कर लेते हैं। चाहे कई आदमी संसार में ऐसे भी मिल जायं जो हृदय में पत्थर सम होते हैं। उन में सम्भव है कि सत्यवचन अपना स्थान न भी बना सकें। तो भी जन साधारण ऐसे नहीं हो सकते। इसलिये

'हृत्सु' में बहुवचन रक्खा है। जो कि सर्वसाधारण का सूचक है।

(घ) गाः का चौथा विशेषण है—मयोभून्। जिसका अर्थ है—सुखों के उत्पादक। सत्यप्रचार, सत्यव्यवहार, सत्य-वचन और सत्यविचार का परिणाम सुख अवश्य है। चाहे वह सुख शीघ्र हो या देर में। अतः ऊपर के चार विशेषण सत्य की वाणियों में अच्छे प्रकार घटते हैं।

(४) मन्त्र के चौथे चरण में यह कहा है कि जो मनुष्य इन सत्यवाणियों की नौकरी स्वीकार करता है वही जीता है। नौकर वह है जो अपने स्वामी की आज्ञा में रहे। जो कि अपने स्वामी का भक्त हो। मनुष्यों को चाहिये कि वे सत्यवचनों को अपना स्वामी समझें और अपने आप को सत्यवचनों के नौकर। अर्थात् वे नौकर बनकर सत्यवचनों की सेवा–शुश्रूषा करने वाले हों और सदैव उन के आज्ञानुवर्त्ती हों। इस प्रकार जो मनुष्य सत्य का नौकर बन कर उसकी आज्ञाओं का सदा पालन करता है वह ही वास्तव में जीता है। उसी की दीर्घायु तथा उत्तम आयु होती है।

परमात्मा सत्यरक्षक और असत्यनाशक है

सुविज्ञानं चिकितुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते ।
तयोर्यत्सत्यं यतरदृजीयः तदित्सोमोऽवति हन्त्यासत् ।
अथर्व० ८ । ४ । १२ ॥

(चिकितुषे) तत्त्वज्ञानी (जनाय) मनुष्य के लिये (सुविज्ञानम्) यह सुविज्ञेय है कि (सत्) सत्य (च) और (असत्) असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) परस्पर विरुद्ध हैं । (तयोः) उन में (यत्) जो (सत्यम्) सत्यवचन है (यतरत्) और जो (ऋजीयः) अधिक ऋजु अर्थात् सरल है (तत्) उस की (इत्) ही (सोमः) प्रेरक परमात्मा (अवति) रक्षा करता है, और (असत्) असत्य का (आहन्ति) नाश करता है ॥ ३७ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में सत्य और असत्य सम्बन्धी चार सिद्धान्तों का वर्णन है ।

(१) सत्यवचन और असत्यवचन परस्पर विरोधी हैं ।

(२) असत्य की अपेक्षा सत्य अधिक ऋजु अर्थात् सरल है ।

(३) संसार का प्रेरक परमात्मा सत्य की रक्षा करता है ।

(४) वही परमात्मा असत्य का नाश करता है ।

---

१ किती संज्ञाने । २ षू प्रेरणे ॥

परमात्मा पापी और हिंसक क्षत्रिय की वृद्धि नहीं करता, वह राक्षस और झूठे का नाश करता है

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्।
हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते॥
अथर्व० ८। ४। १३॥

(सोमः) प्रेरक परमात्मा (वृजिनम्) पापी को (न वै उ) कभी भी नहीं (हिनोति) बढ़ाता, (न) और न (क्षत्रियम्) क्षत्रिय को (मिथुया) जो कि हिंसाव्यवहार को (धारयन्तम्) धारण करता है। (रक्षः) राक्षस को (आहन्ति) मारता है, (असत्) असत्य (वदन्तम्) बोलने वाले को (आहन्ति) मारता है। (उभौ) दोनों (इन्द्रस्य) इन्द्र के (प्रसितौ) बन्धन में (शयाते) शयन करते हैं॥ ३८॥

भावार्थः—इस मन्त्र में निम्नलिखित भाव दर्शाए हैं—

(१) सोम अर्थात् जगत् का प्रेरक परमात्मा पापी जनों को कभी भी उच्च गति नहीं देता।

(२) वह अत्याचारी क्षत्रियों को भी उच्चगति नहीं देता।

(३) वह राक्षसवृत्ति वाले लोगों को मारता है।

(४) वह असत्यवादी का नाश करता है।

(५) ये सब इन्द्र अर्थात् जगत् के राजा परमात्मा के बन्धन में सर्वदा रहते हैं। अर्थात् इन्द्र इन के बुरे कर्मों का दुःख फल देता है। ये दुःखों से मुक्ति कभी भी नहीं पावें।

परमात्माश्रय से वाणी का पाप-मोचन

यदुवक्थानृतं जिह्वया वृजिनं बहु।
राज्ञस्त्वा सत्यधर्मणो मुञ्चामि वरुणादहम्॥
अथर्व० १।१०।३॥

(यत्) जो (अनृतम्) झूठ और (बहु) बहुत प्रकार के (वृजिनम्) त्यागने योग्य पापवचन (जिह्वया) जिह्वा से (उवक्थ) तूने बोले हैं। (राज्ञः) सब संसार के राजा (सत्यधर्मणः) सत्यनियम वाले तथा (वरुणस्य) श्रेष्ठस्वरूप परमात्मा के आश्रय द्वारा (त्वा) तुझ को (अहम्) मैं (मुञ्चामि) उन पापों से छुड़ाता हूं॥ ३९॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में पिता अपने पुत्र को, या गुरु अपने शिष्य को अथवा उपदेशक किसी उपदेश्य व्यक्ति को कहता है कि तूने अपनी जिह्वा से जो झूठ या अन्य त्यागने योग्य दुर्वचन बोले हैं मैं तुझे उन दुर्वचनों से—संसार के राजा, सत्य नियमों वाले तथा श्रेष्ठस्वरूप परमात्मा के आश्रय

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में "त्रैहायन-अनृतव्रत" का वर्णन है। त्रि=तीन, हायन=वर्ष। तीन वर्ष लगातार झूठ न बोलने के व्रत का नाम "त्रैहायनानृतव्रत" है। यह अभ्यास की एक कोटि है। व्यक्ति जब देख ले कि गत तीन वर्षों में, मैं अपने व्रत में सफल हो गया हूं, तो वह "त्रैहायनानृतव्रत" के लिये फिर दूसरी बार भी प्रण करे। इस प्रकार करते करते मनुष्य जीवनानृतव्रत की अवधि तक भी पहुंच सकता है। हमारी अवस्था इतनी गिर गई है, कि हमारे लिये सत्य का घण्टा-व्रत करना भी दूभर है।

(२) कई व्यक्ति इकट्ठे मिलकर यदि ऐसे व्रतों को करें, तो अधिक लाभ होता है। इस से व्रतपालन में, एक दूसरे की सहायता तथा एक दूसरे पर नज़र हो सकती है। इस भाव के दर्शाने के लिये ही सम्भवतः "ऊदिम" में बहुवचन दिया है।

(३) झूठ बोलने का फल बुरा होता है। झूठ बोलना एक दुष्कर्म है। अतः यह दुष्फल भी है। मन्त्र में दुरित पद का भी यही भाव है। दुर्=बुरा, इत=फल। अतः दुरित=दुष्फल कर्म।

(४) झूठ बोलने से पाप होता है, इसीलिये मन्त्र में अनृत को 'अंहस्' कहा है। अंहस् का अर्थ है पाप।

(५) पाप मनुष्य को मार डालता है, यह भाव अंहस् पद से सूचित होता है। अंहस् पद 'हन्' धातु से बना है जिस का अर्थ है हिंसा।

(६) इसी प्रकार अन्य दुष्कर्म भी दुष्फल तथा पाप-जनक होते हैं। (सर्वस्मात्)

(७) अनेक व्यक्ति मिल कर चाहे ऐसे व्रतों को करें। परन्तु आत्म-निरीक्षण प्रत्येक व्यक्ति का पृथक् २ कर्त्तव्य है। आत्म-निरीक्षण में प्रत्येक व्यक्ति अपनी मदद आप ही कर सकता है। और आत्म-निरीक्षण करते हुए यदि अपने व्रत के पालन में कहीं त्रुटि दीख पड़े तो मनुष्य उसे दूर करने के लिये परमात्मा से शक्ति की प्रार्थना करे। इस वैयक्तिक आत्म-निरीक्षण के लिये ही मन्त्र में "मा" पद भी दिया है जो कि एकवचन है।

आत्मिक प्रकाश

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम्॥
अथर्व० ९। १। १६॥

(यथा) जैसे (मधुकृतः) मधुकर अर्थात् भौंरे (मधा-वधि) मधु के छत्ते में (मधु) मधु को (संभरन्ति) इकट्ठा

करते हैं। (एवा) इसी प्रकार (अश्विना) हे अश्विदेवताओ! (.मे) मेरे (आत्मनि) आत्मा में (वर्चः) कान्ति (ध्रियताम्) स्थापित कीजिये ॥ ४१ ॥

भावार्थः—(१) मन्त्र में वर्च की प्राप्ति का वर्णन है। वर्च का अर्थ है—कान्ति, तेज। निरुक्तकार ने अश्विदेवता के वर्णन में 'अश्विनौ' का अर्थ "सूर्याचन्द्रमसौ" भी दिया है। यथाः—तत्कावश्विनौ। सूर्याचन्द्रमसावित्येके ॥ १२ । १ ॥ सूर्य और चन्द्र दोनों वर्चस्वी हैं, कान्तिमय हैं। और वर्च की प्राप्ति में उन्हीं को आदर्श माना जा सकता है, जो कि स्वयं भी वर्चस्वी हों। अतः इस मन्त्र में अश्विनौ से सूर्य और चन्द्र का ग्रहण करना ही उत्तम होगा। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मधुछत्ता मधु से लबालब भरा होता है, उसी प्रकार मेरा आत्मा सूर्य और चन्द्र की कान्ति से अभिव्याप्त हो।

(२) संभरन्ति=सम्+हरन्ति। 'हृग्रहोर्भः छन्दसि, इस से ह को भ हुआ। भौंरे इकट्ठे होकर मधु के छत्ते को मधु से भरते हैं। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्र इकट्ठे होकर मुझ में वर्च स्थापित करें। सूर्य का वर्च एक प्रकार का है और चन्द्र का दूसरे प्रकार का। सूर्य के वर्च में तीक्ष्णता है और चन्द्र के वर्च में सौम्यगुण है। मनुष्य के आत्मा में भी दोनों प्रकार के ये वर्च होने चाहियें।

तीसरा प्रकरण

कर्मयोग

आत्मा का स्वरूप, श्रेष्ठ पुरुषों की प्राप्ति और समों से बढ़ना

शुक्रोसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ अथर्व० २।११।५ ॥

(शुक्रः[1]) तू शुद्ध पवित्र (असि) है, (भ्राजः[2]) तू प्रकाशस्वरूप (असि) है, (स्वः[3]) तू उपतापक (असि) है, (ज्योतिः[4]) तू तेजःस्वरूप है । (श्रेयांसम्) अपने से अधिक गुणिजन को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्यगुण वाले को (अति=अतीत्य) लाँघकर (क्राम[5]) पग आगे बढ़ा ॥ ४२ ॥

---

१ ईशुचिर् पूतिभावे ॥ २ भ्राजृ दीप्तौ ॥

३ स्वृ शब्दोपतापयोः ॥ ४ द्युत् दीप्तौ ॥

५ क्रमु पादविक्षेपे ॥

भावार्थः—इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध में जीवात्मा का वास्तविक स्वरूप दर्शाया है। प्रथम यह दर्शाया है किः—

(१) जीवात्मा वास्तव में शुद्ध पवित्र है। इसीलिये सांख्यकार ने भी अ० १ सू० १९ में जीवात्मा को शुद्ध ही बतलाया है। यथाः—"न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते"। अनृत, कपट और ईर्ष्या आदि दोषरूपी अशुद्धि सङ्गज है। आत्मा के ये स्वाभाविक धर्म नहीं।

(२) दूसरा गुण यह दर्शाया है कि तू प्रकाशस्वरूप है। प्रकृति प्रकाशस्वरूप नहीं। मट्टी चढ़ जाने से जैसे सुवर्ण का असली रूप छिप जाता है, वैसे ही मनुष्य जब प्रकृति में फंस जाता है, तब प्रकृति के आवरण से आत्मा का अपना स्वाभाविक रूप ढप जाता है। वस्तुतः वह प्रकाशस्वरूप ही है। तभी तो देशों के इतिहासों में कभी २ ऐसे व्यक्ति भी पैदा हो जाते हैं जिनका कि स्वाभाविक आत्म-प्रकाश संसार भर को प्रकाशित कर डालता है। भेद केवल इतना ही है कि हमारे आत्माओं से अभी तक परदा नहीं हटा और उनका हट चुका है। कई लोग ऐसे आत्माओं को ईश्वरीय अवतार कहते हैं। परन्तु वास्तव में ऐसे आत्माओं में यह प्रकाश उनका स्वाभाविक धर्म ही है आगन्तुक नहीं।

(३) तीसरा गुण यह दर्शाया है कि तू उपतापक है। अग्नि उपतापक है। अग्नि सुवर्ण को तपा कर उसके मला को दूर कर देती है। इसी प्रकार जीवात्मा भी उपतापक है। जीवात्मा रूपी भट्टी में जब इसका अपना तेजस्ताप जागृत होता है, तब उस के सभी दोष—मल दग्ध होजाते हैं।

(४) इस प्रकार मन्त्र के पूर्वार्द्ध में जीवात्मा के असली स्वरूप को दर्शाकर मन्त्र के उत्तरार्द्ध में मनुष्य के लिये दो कर्त्तव्य कर्मों का उपदेश किया है। पहला यह कि—

(क) अपने से अधिक गुणी जनों को प्राप्त होओ, उनका सत्सङ्ग करो (आप्नुहि श्रेयांसम्) । दूसरा यह कि—

(ख) उन जैसे बनो, उनके बराबर हो जाओ, पुनः उन से भी आगे बढ़ो (अतिसमं क्राम)। अधिक गुणियों को देखकर उनसे ईर्ष्या द्वेष न करो अपितु उनको अपने से अधिक गुणी जान आनन्दित होओ, उनके साथ मैत्री करो, उनकी सेवा करो और उन जैसा बनो। और जिस अवस्था में तुम हो उसी को परमावधि मानकर वहीं मत टिके रहो। अपितु उस अवस्था से निकलो और उससे भी ऊंची अवस्था पर जाओ, और उसे भी फिर पीछे छोड़ो तथा कदम और आगे बढ़ाओ। यही उन्नति का मार्ग है।

धन और गुणों में शिरोमणि बनना

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥
अथर्व० १६ । ३ । १ ॥

(अहम्) मैं (रयीणाम्) धनिकों का (मूर्धा) शिरो-मणि और (समानानाम्) बराबर वालों का (मूर्धा) प्रधान (भूयासम्) होऊं ॥ ४३ ॥

भावार्थः—यह मन्त्र भी वैदिक कर्मशीलता का अच्छा परिचायक है।
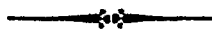
कर्मयोगी सूर्यसम तेजस्वी बन जाता है

यश्चकार न, शशाक कर्तुं, शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥
अथर्व० ४ । १८ । ६ ॥

(यः) जिसने (चकार) कर्म किये (न) नहीं, परन्तु जो (कर्तुम्) कर्म करने की (शशाक) शक्ति रखता था, उसने अपने (पादम्) पैर और (अङ्गुरिम्) अङ्गुलि को (शश्रे)

---

(१) शॄ विशरणे ॥

तोड़ लिया। (अस्मभ्यंम्) हमारे लिये (आत्मने) और अपने लिये (भद्रम्) भद्रकार्य (चकार) जिसने किये हैं (सः) वह (तु) तो (तपनम्) सूर्य्यसम है॥ ४४॥

भावार्थः—(१) परमात्मा ने देह और उसके अवयव कर्म करने के लिये ही दिये हैं। अतः परमात्मा को हमारे लिये कर्म-मार्ग अभीष्ट है कर्म-त्याग नहीं। यदि परमात्मा को कर्म-त्याग ही अभीष्ट होता तो वह हमें देह के भिन्न २ अवयव न देता।

(२) जिस मनुष्य के देह और देहावयवों (हाथों, पैरों, अङ्गुलियों तथा अन्य अङ्गों) में काम करने की शक्ति तो है परन्तु आलस्य-वशीभूत होकर काम करता नहीं, वह अपने हाथ पैर आदि अवयवों को निकम्मा बना लेता है। कालान्तर में उसके हस्तपादादि अवयव उसे यथेच्छ काम न दे सकेंगे। मानो कि उसके हाथ पैर टूट गये हैं, वह अपने हाथ-पैर से मुक्ति पा गया है।

(३) मन्त्र में चकार, शशाक और शश्रे इन शब्दों में भूतकाल का प्रयोग है। इसका अभिप्राय यह है कि भूत-काल में जिस २ ने अपने अवयवों से उचित कार्य नहीं लिया

---

(१) भद्रं कल्याणे सुखे च॥

उस २ ने अपने अवयव निकम्मे कर लिये हैं। अतः वर्तमान काल के लोगों को इन घटनाओं से शिक्षा लेकर अपने जीवनों को कर्म-प्रधान बनाना चाहिये।

(४) यह एक वैज्ञानिक सिद्धान्त है कि परिस्थिति के अनुकूल अङ्गों की घटती-बढ़ती भी हो सकती है। विकासवाद (n) के ग्रन्थों में इस सिद्धान्त को कई दृष्टान्तों द्वारा परिपुष्ट किया गया है। आवश्यकता होने पर प्राणियों में नये अङ्गों की भी वृद्धि होती आई है। और अनावश्यकता होने पर उन अङ्गों का ह्रास भी होता आया है। इसी प्रकार यदि हम अपने कतिपय अङ्गों से, लगातार और स्थिर रूप में, सन्तान—परम्परा से, कुछ दूर तक भी, कार्य लेना छोड़ दें तो हमारे वे अङ्ग अवश्य ही हमारा साथ छोड़ देंगे।

(५) परन्तु कर्म—प्रधान—जीवन या कर्म—योग का यह अभिप्राय नहीं कि कर्त्तव्य अकर्त्तव्य सभी प्रकार के कर्म करने चाहियें। इसी बात को समझाने के लिये मन्त्र के उत्तरार्द्ध में भद्र कार्यों के करने का निर्देश किया है। भद्रकार्य वे होते हैं कि जिनसे (क) सुख हो (ख) और कल्याण हो। सुख से अभिप्राय अभ्युदय का और कल्याण से निःश्रेयस का है।

(६) इसी मन्त्र में व्यक्ति—वाद और समाज—वाद के

झगड़े को भी मिटा दिया है। व्यक्ति को न तो केवल व्यक्ति-वादी ही होना चाहिये और न केवल समाज-वादी ही। अपितु समाज को मुख्य रखते हुए व्यक्ति को गौण बनाना चाहिये। अपनी व्यक्ति को सर्वथा शून्य न समझना चाहिये। यही वैदिक सिद्धान्त है। इससे उलटा अर्थात् (क) केवल व्यक्तिवाद (ख) केवल समाज-वाद या (ग) व्यक्ति-प्रधान-समाजवाद वेदों को अभीष्ट नहीं। हां, समाज-प्रधान-व्यक्तिवाद वेदों को अवश्य अभीष्ट है। इसीलिये भद्रकर्मों में कर्त्तव्य बुद्धि का उपदेश देते हुए वेद में (क) अस्मभ्यम् और (ख) आत्मने यह दो पद रक्खे हैं। और साथ ही समाज-प्रधान-व्यक्तिवाद की ओर निर्देश करने के लिये अस्मभ्यम् पद को पहिला तथा आत्मने पद को दूसरा स्थान दिया है।

(७) मन्त्र में यह भी कहा है कि जो व्यक्ति दूसरों का और अपना भला करता है वह सूर्यसम तेजस्वी बन जाता है। इस परोपकार और आत्मोपकार से उस में एक अलौकिक तेज आ जाता है। जिस से वह व्यक्ति अपने दिव्य तेज के कारण अपनी समाज में सूर्य की नाईं चमकने लगता है। परोपकार भी तभी हो सकता है जब कि आत्मोद्धार प्रथमतः कर लिया जाय। जिसे आत्मसुधार की आवश्यकता है वह पर-सुधार कैसे कर सकता है।

उपार्जन, दान तथा सत्कर्मों का संचय

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह॥
अथर्व० ३। २४। ५॥

(शतहस्त) हे सौ हाथों वाले! (समाहर) तू सम्यक् रीति से संग्रह कर, और (सहस्रहस्त) हे हज़ार हाथों वाले! (संकिर) तू सम्यक् रीति से दान कर। (इह) इस जीवन में (कृतस्य) किये कर्म (च) और (कार्यस्य) कर्त्तव्य [जो कि आगे करने हैं] कर्म की (स्फातिम्) वृद्धि को (समावह) अच्छे प्रकार प्राप्त कर॥ ४५॥

भावार्थः—दो हाथ भी संसार में विस्मयजनक कार्यों को कर दिखाते हैं। वेद इस मन्त्र में शिक्षा देता है कि मनुष्य को संसार की विशालता और अपने केवल दो हाथ देखकर निराश न होना चाहिये। जीव के अन्दर अक्षय शक्ति भरी हुई है। जब उसकी अन्तःशक्ति जागृत हो जाती है तब मनुष्य ऐसे ऐसे कार्य कर दिखाता है मानो कि वह साक्षात् शतबाहु या सहस्रबाहु है। मन्त्र में कहा है कि प्रत्येक मनुष्य को चाहिये कि वह अपने आप को शतबाहु, शतहस्त, सहस्रबाहु तथा सहस्रहस्त जाने। इस का यह अभिप्राय नहीं कि

मनुष्य यह समझने लगे कि उस के सौ हाथ या हजार हाथ वास्तव में हो गये हैं। अपितु वह ऐसा निश्चय करे कि मैं अकेला भी इतना कार्य कर सकता हूं जितने को १०० या १००० हाथ मिल कर कर सकें। यह बात है भी ठीक, केवल अन्तःशक्ति का जागरण चाहिये। यदि मनुष्य अपने में शत-हस्त और सहस्रहस्त की दृढ़भावना करता जाय तो उस की यह अन्तःशक्ति अवश्य जागृत हो जायगी। इस सिद्धान्त के सुझाने के लिये ही इस मन्त्र में मनुष्य का संबोधन शत-हस्त और सहस्रहस्त इन पदों से किया है। इस मन्त्र में तीन उपदेश दिये गये हैं:—

(१) प्रत्येक मनुष्य अपने आप को शतहस्त और सह-स्रहस्त जाने।

(२) हाथ के दो काम हैं (क) संग्रह, (ख) दान। मन्त्र में मनुष्य के लिये कहा है कि तू शतहस्त होकर वस्तुओं की प्राप्ति कर और वह भी उत्तम रीति से। छल कपट से वस्तुओं की प्राप्ति न कर। तथा सहस्रहस्त होकर उन वस्तुओं का दान कर। इस प्रकार संग्रह करना और दान करना दोनों ही वैदिक आज्ञाएं हैं। यह ख्याल रखना चाहिये कि मन्त्र में संग्रह के साथ शतहस्त और दान के साथ सहस्रहस्त का प्रयोग है। जिस का अभिप्राय यह है कि

वैदिक सिद्धान्त में जमा करने की अपेक्षा दान को उत्तम समझा है। संग्रह करना अर्थात् कमा कर जमा कर छोड़ना और उसका सत्पात्रों में दान न करना यह वैदिक दृष्टि में नीच काम है। "शेवधिपा" अर्थात् खज़ाने में धन जोड़ कर रखने वाले को वेद में अरि (शत्रु) कहा है। यथाः—"शेवधिपा अरिः" ॥ यजु० अ० ३३। मं० ८२ ॥

(३) तीसरा उपदेश यह है कि किये हुए उत्तम कर्मों तथा भविष्यत् में करने योग्य उत्तम कर्मों की संख्या में वृद्धि करो। प्रतिदिन, किये हुए उत्तम कर्मों की list में और नये नये उत्तम कर्मों को दाख़िल करते जाओ। तथा इसी प्रकार जिन जिन नये उत्तम कर्मों का भविष्यत् में करना तुम ने निश्चित किया है उस दूसरी list में भी और २ उत्तम उत्तम कर्त्तव्य कर्मों को जमा करो। ताकि शुभकर्मों का बहुत बड़ा संग्रह हो जाय। उत्तम कर्मों के करने की समाप्ति कहीं भी नहीं हो सकती। अतः यह list दिनों दिन बढ़ती ही जायगी। कर्ममार्ग सम्बउपदेश बहुत ही उत्तम है।

(४) मन्त्र का "किर" पद कॄ धातु से बना है जिस का अर्थ है विक्षेप अर्थात् फैंकना। कॄ विक्षेपे। अर्थात् जैसे किसी तुच्छ वस्तु को हम निर्मम होकर फैंक देते हैं, उसी प्रकार हमें निर्मम होकर दान करना चाहिये, यह भाव-

"किर" पद से सूचित होता है। "किर" के साथ जो "सम्" उपसर्ग लगाया है उस का अर्थ है "अच्छे प्रकार"। अर्थात् यह दान पात्र, कुपात्र को जांच कर करना चाहिये। तभी दान उत्तम दान समझा जावेगा। कुपात्र को दान देना कुदान है।

परमात्मा की आज्ञा में रह कर कर्म करो

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः। शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः॥ अथर्व० ६।२३।३॥

(देवस्य) दिव्यगुणों वाले तथा (सवितुः) जगदुत्पादक प्रभु की (सवे) प्रेरणा अर्थात् आज्ञा में रह कर (मानुषाः) सब मनुष्य (कर्म) कर्म (कृण्वन्तु) करें। (नः) हमारे लिये (अपः) जल (शम्) शान्तिदायक तथा (ओषधीः) ओषधियां (शिवाः) कल्याणकारी (भवन्तु) हों॥ ४६॥

भावार्थः—(१) मन्त्र में परमात्मा की ओर से दो आज्ञाएं हैं—(क) मनुष्य कर्मशील हों, निकम्मे न हों, (ख) तथा परमात्मा की आज्ञा के अनुकूल कर्म करें, उस के प्रति-

---

(१) षु प्रसवे॥ (२) षू प्रेरणे॥

फूल नहीं। जिस से मनुष्य सत्कर्मी हो सकें और असत्कर्मों का त्याग कर सकें। इसी का नाम कर्मयोग है।

(२) इस प्रकार शुभ कर्मों के करने से, जल आदि संसार के सभी पदार्थ, हमारे लिये कल्याणकारी हो जायँगे। यतः संसार की रचना कर्मफल भोगवाने के लिये है, अतः उत्तमकर्मियों के लिये संसार अवश्य कल्याणकारी होगा।

(३) कर्तव्य—शास्त्र के दो पहलू हैं (क) असत् कर्मों का त्याग, (ख) सत् कर्मों का अनुष्ठान। असत् कर्मों के त्यागमात्र से ही मनुष्य धर्मात्मा नहीं बनता, अपितु इसके लिये सत्कर्मों का अनुष्ठान चाहिये। इसीलिये मन्त्र में सत्कर्मों के करने की आज्ञा दी है। निषेधरूप धर्म से विधिरूप धर्म सदैव उत्कृष्ट होता है।

तप का कारण कर्म है

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे। तपो ह जज्ञे कर्मण-स्तत्ते ज्येष्ठमुपासत॥ अथर्व० ११। ८। ६॥

(तपः) तप (च) और (एवा) इसी प्रकार (कर्म) कर्म (महति) महान् (अर्णवे) संसार समुद्र के (अन्तः)

अन्दर (आस्ताम्) थे । (तपः) तप (ह) निश्चय करके (कर्मणः) कर्म से (जज्ञे) प्रादुर्भूत हुआ, (वे) उन्होंने (तत्) उस कर्म की (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ रूप से (उपासत) उपासना की ॥ ४७ ॥

भावार्थः—(१) अर्णवेः—मन्त्र में "महानर्णव" से अभिप्राय संसार का है । लोग प्रायः संसार को समुद्र से रूपित और उपमित किया करते हैं । यथा भवसागर ।

(२) तपःकर्मः—मनुष्य का इस भवसागर से उद्धार करने वाले दो साधन हैं । (क) कर्म और (ख) तप ।

(३) आस्ताम्ः—ये कर्म और तप अनादिकाल से चले आये हैं । परन्तु स्मरण रखना चाहिये कि—

(४) कर्मणः—कर्म, तप का भी कारण है । विना कर्म के तप का कोई अस्तित्व नहीं । सुस्त और निकम्मा मनुष्य तपस्वी नहीं बन सकता । उद्योगी ही तपस्वी बन सकता है । तप और कर्म में प्रथम कर्म का अवलम्ब लेना चाहिये । कर्म-योगी स्वयमेव तपस्वी बन जाता है ।

(५) ज्येष्ठम्ः—अतः तप और कर्म में कर्म ज्येष्ठ अर्थात् प्रधान है । तप प्राप्त करना हो तो कर्म के मार्ग पर चलो । कर्मों का त्याग मत करो । हां, निषिद्ध कर्मों का त्याग करना तो प्रत्येक व्यक्ति के लिये आवश्यक है ।

जीवन का मार्ग

आरोहण और आक्रमण

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम् ॥

अथर्व० ५ । ३० । ७ ॥

(पथः) मार्ग के (उदयनम्) चढ़ाव को (विद्वान्) जानता हुआ और (अनुहूतः) पुनः प्रोत्साहित किया हुआ तू (पुनः) फिर (एहि) इस पथ पर आ । यतः (आरोहणम्) इस ऊंचे पथ पर चढ़ना और (आक्रमणम्) पग आगे बढ़ाना (जीवतो जीवतः) प्रत्येक प्राणधारी का (अयनम्) मार्ग है ॥ ४८ ॥

भावार्थः—परमात्मा निरुत्साही और हताश व्यक्ति के प्रति उपदेश देते हैं कि हे जीव ! यदि तू अपने पहिले प्रयत्नों में असफल हुआ है तो इस से हतोत्साह मत हो । तू फिर आशा की डोर हाथ में पकड़ । आ, मैं तुझे फिर उत्साहित करता हूं । इस चढ़ते हुए रास्ते पर फिर पग धर । क्योंकि तू इस बात को अच्छे प्रकार समझ ले कि जीवन के लिये रास्ते का चढ़ाव ही नियत है, उतराव नहीं ।

पहाड़ी रास्ता शिखर को लक्ष्य में रख कर चढ़ाव की ओर बढ़ा रहता है और नीचे की दृष्टि से उतराव की ओर भी झुका रहता है। मन्त्र में जीवन मार्ग का सादृश्य इस पहाड़ी रास्ते के साथ दर्शाया है। जीवन यात्रा में श्रेयोमार्ग चढ़ता हुआ रास्ता और प्रेयोमार्ग उतरता हुआ रास्ता है। जीव के लिये आवश्यक है कि वह प्रेयोमार्ग का त्याग और श्रेयोमार्ग का अवलम्बन करे। उद्देश्य की चोटी पर पहुंचने के लिये प्रत्येक जीव को चाहिये कि वह आशा और उत्साह से इस चढ़ते हुए मार्ग पर पग रक्खे, इस पर चढ़े और पग आगे बढ़ावे। पग का पीछे फैंकना जीवनमार्ग से उलटा चलना है। परमात्मा ने प्रत्येक जीव के लिये चढ़ता हुआ मार्ग ही नियत किया है। यही जीवन-मार्ग है। और इस से उलटा मृत्यु-मार्ग। यही देव-मार्ग है और इस से उलटा पितृ-मार्ग। इसे ही देवयान कहते हैं और इससे उलटे को पितृयान।

ज्ञान और विज्ञान, उद्यम और सावधानता

ऋपी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम्॥

अथर्व० ५।३।१०॥

(बोधप्रतीबोधौ) ज्ञान और विज्ञान (ऋषी) दो ऋषि हैं; (यः) जो (अस्वप्नः) उद्यम (च) और (जागृविः) सावधानता है—ये भी दो ऋषि हैं। (तौ) वे दोनों ऋषि (ते) तेरे (प्राणस्य) जीवन के (गोप्तारौ) रक्षक हैं, वे (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) रात (जागृताम्) जागते रहें ॥ ४९ ॥

भावार्थः—(१) बोध का अर्थ है इन्द्रियजन्य ज्ञान और प्रतिबोध का अर्थ है अन्तर्भान। प्रतिबोध को अंग्रेजी में Intuition कहते हैं। इस के अन्य नाम प्रतिभा, प्रतिभान, आर्षेय बोध, योगजसाक्षात्कार तथा प्रातिभज्ञान भी हैं। इसी ज्ञान की पराकाष्ठा का नाम ऋतम्भरा प्रज्ञा है। परमात्मा का, जीवात्मा का, सूक्ष्म, व्यवहित तथा विप्रकृष्ट वस्तुओं का प्रत्यक्षात्मक विशदभान भी प्रतिबोध द्वारा ही होता है। प्रतिबोध का साधन बाह्य इन्द्रियां नहीं, अपितु मन अथवा आत्मा की सात्विक अवस्था ही इस का साधन है। बोध इस प्रतिबोध से विपरीत लक्षणों वाला होता है। बोध का साधन बाह्य इन्द्रियां हैं तथा इन द्वारा प्राप्त ज्ञान। जैसे कि यह दवात है, इस बोध का कारण चक्षुरूपी बाह्येन्द्रिय है और "वर्षा होगी" इस बोध का कारण इन्द्रिय द्वारा प्राप्त ज्ञान है।

---

(१) इस शब्द को "प्रतिबोध" इस प्रकार भी लिखते हैं॥

यथा—उमड़ते हुए बादलों का देखना। ये दोनों बोध तथा प्रतिबोध ऋषि अर्थात् हमारे मार्गदर्शक हैं।

(२) इसी प्रकार अस्वप्न और जागृवि भी दो ऋषि हैं। ये भी हमारे मार्गदर्शक हैं। मन की तीन अवस्थाएं होती हैं। (क) जागृत, (ख) स्वप्न, (ग) सुषुप्ति। जागृत अवस्था सावधानता की सूचक है। स्वप्न में बाह्य इन्द्रियां तो कार्य नहीं करतीं परन्तु मन चञ्चल रहता है, जिस से सोया हुआ मनुष्य स्वप्नों को देखता रहता है। यह अवस्था आलस्यमयी कही जा सकती है। जागते हुए जिस प्रकार आलसी मनुष्य बाह्य इन्द्रियों को कर्त्तव्य से शून्य किये रखता है और मानसिक पलाव पकाया करता है, इसी प्रकार स्वप्नावस्था में भी मनुष्य की बाह्य इन्द्रियां अपने अपने कामों से पृथक रहती हैं। उस समय केवल मन ही सक्रिय होता है। अतः मन्त्र में अस्वप्न शब्द से उद्यम और जागृवि शब्द से सावधानता का अर्थ लिया है। सुषुप्ति में मन भी निष्क्रिय तथा शान्त हो जाता है। उद्यम और सावधानता के बिना जीवन नहीं। उद्यमी ही कर्म-योग के पथ पर चल सकता है और सावधानता का दीपक हाथ में लिये मार्ग की ठोकरों से अपने आप को बचा सकता है।

---

(१) ऋषिर्दर्शनात्। निरु० १। २॥

(३) मन्त्र में कहा है कि बोध और प्रतिबोध तथा अस्वप्न (उद्यम) और जागृवि (सावधानता) प्राण के रक्षक हैं। बोध और प्रतिबोध उद्देश्यरूप हैं जिन की प्राप्ति के बिना मनुष्य अपने अन्तिम लक्ष्य पर नहीं पहुंच सकता। उद्यम इन की प्राप्ति का मुख्य साधन तथा सावधानता मार्ग को निष्कण्टक बनाने में प्रधान साधन है। अतः मनुष्य को चाहिये कि वह अपने जीवन में बोध, प्रतिबोध, उद्यम तथा सावधानता को कभी न भूले।

कर्मयोगी को दिव्यगुणों की प्राप्ति होती है

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ अथर्व० २० । १८ । ३ ॥

(देवाः) दिव्यगुण, (सुन्वन्तम्) सोमयाग आदि श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले को (इच्छन्ति) चाहते हैं। (स्वप्नाय) वे दिव्य गुण स्वप्नशील अर्थात् सुस्त मनुष्य को (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते। (अतन्द्राः) निद्रा और तन्द्रा से भिन्न वे दिव्यगुण (प्रमादम्) मदरहित जन को (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ५० ॥

---

(१) प्रगतो मदो यस्य तम्, जिसका मद चलागया है ॥

भावार्थः—(१) देव शब्द दिव्यगुणों का भी वाचक है यथा—"देवासुर संग्राम" इस पद में देव का अर्थ सद्‌गुण और असुर का अर्थ दुर्गुण है। इसके लिये बृहदारण्यक उपनिषद्, तृतीय ब्राह्मण, प्रथम खण्ड से देखने योग्य है।

(२) ये दिव्यगुण श्रेष्ठ कर्मों के करने वाले मनुष्य को ही प्राप्त होते हैं। सुस्त, निष्कर्मी जन से दिव्यगुण सदैव दूर रहते हैं।

(३) दिव्यगुण कौन से होते हैं इसके स्पष्टीकरण के लिये मन्त्र में "अतन्द्राः" पद दिया है। तन्द्रा का अर्थ होता है—आलस्य और "अ" का अर्थ होता है—भेद। इसलिये "अतन्द्राः" का अर्थ हुआ—तन्द्रा से भिन्न। अर्थात् तन्द्रा, निद्रा, आलस्य और इनके परिणामः—अभूति, कुविचार, पापों में प्रवृत्ति आदि ये सब अदेव और असुर हैं। और इनसे भिन्न अर्थात् कर्मशीलता, चुस्ती और इनके परिणामः—विभूति, सुविचार, सात्त्विकभाव आदि ये सब देव कहाते हैं। श्रेष्ठ कर्मों के करनेवाले को ये सब देव अर्थात् दिव्यगुण प्राप्त होते हैं और जो श्रेष्ठ कर्म नहीं करता उसमें इन देवों अर्थात् दिव्यगुणों का वास नहीं होता।

(४) स्वप्नशीलता या सुस्ती जिस प्रकार दिव्यगुणों

को दूर रखती है, इसी प्रकार मद की अवस्था भी मनुष्यों में दिव्यगुणों को आने नहीं देती। मद, विद्या का होता है, धन का होता है, कुल का होता है, उच्च पदवी का होता है। इस प्रकार मद के कई प्रकार हैं। ये मद दिव्यगुणों के विरोधी हैं।

कामना से बल और तेज पैदा होता है

त्वं काम सहसासि प्रतिष्ठितो विभुर्विभावा सख आ सखीयते। त्वमुग्रः पृतनासु सासहिः सह ओजो यजमानाय धेहि॥ अथर्व० १६।५२।२॥

(काम) हे काम! (त्वम्) तू (सहसा) बल से (प्रतिष्ठितः) प्रतिष्ठायुक्त हुआ है, (विभुः) तेरी सर्वत्र सत्ता है, (विभावा) तू तेजस्वी है, (सखीयते) तुझ से मित्रता चाहने वाले के लिये तू (सखः) मित्र है। (त्वम्) तू (उग्रः) बहुत ओजस्वी है, (पृतनासु) युद्धों में तू (सासहिः) विजयशाली है, (यजमानाय) काम-यज्ञ करने वाले के लिये (सहः) बल और (ओजः) ओज (आधेहि) दे॥ ५१॥

---

(१) भा दीप्तौ।

भावार्थः—(१) यह मन्त्र कामनापरक है। कामना का अर्थ है—इच्छा। इसी को ईहा भी कहते हैं। कई लोग निरीहावाद या अकामता के सिद्धान्त को उत्तम मानते हैं। परन्तु यह सिद्धान्त उत्तम नहीं। कामना, जीवन की जड़ है। विना कामना के कोई भी उत्तम कार्य नहीं हो सकता।

(२) वेदों का सिद्धान्त यह है कि काम-यज्ञ के विना जीवन उत्तम नहीं बन सकता। इसलिये कामनामय-जीवन वाले को वेद में यजमान अर्थात् यज्ञ करने वाला कहा गया है। यज्ञ पद उत्तम कर्मों का वाचक है। यज्ञ पदार्थ में निकृष्ट कर्मों का समावेश नहीं। इसलिये यजमान पद से यह अभिप्राय स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक सिद्धान्त के अनुकूल उत्तमोत्तम कामनाएं करना यही कामनामय जीवन है। इस कामनामय जीवन में निकृष्ट कामनाओं का समावेश नहीं। इसी जीवन का नाम निष्काम जीवन है। अर्थात् बुरी कामनाओं और बुरे कर्मों का सर्वथा परित्याग, और उस के साथ साथ सभी उत्तम कामनाओं तथा उत्तम कर्मों का उपादान, यही निष्काम-जीवन है।

निष्काम कर्म की व्याख्या में ऋषि दयानन्द लिखते हैं "स यदा परमेश्वरस्य प्राप्तिमेव फलमुद्दिश्य क्रियते तदाऽयं श्रेष्ठफलापन्नो निष्कामसंज्ञां लभते" ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ०

२३, संस्कृत संस्करण। अर्थात् जो कर्म परमात्मा की अथवा अन्य श्रेष्ठ फलों की प्राप्ति की इच्छा से किये जाते हैं, उन कर्मों को निष्कामकर्म कहते हैं।

(३) वेदों में यहां तक प्रतिपादन किया है कि विना कामना के परमात्मा भी सृष्टि रचने में असमर्थ है। परमात्मा पहिले कामना करता है कि "मैं सृष्टि रचूं" तभी वह प्रकृति में कार्योन्मुखी हलचल कर सकता है। यथाः—"कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्" ऋग्वेद मं० १० सूक्त १२९ मन्त्र ४। इस का अभिप्राय यह है कि जगत्सर्जन के पूर्व काम अर्थात् कामना या इच्छा परमात्मा में पैदा हुई, यह कामना सृष्ट्युत्पत्ति के लिये मानसिक वीर्य था। अतः यह सिद्ध हुआ कि काम या कामना कोई बुरी वस्तु नहीं, अपितु उत्तम है। यतः परमात्मा भी काममय है। इसीलिये ही ऊपर के मन्त्र में कामना को यज्ञ के नाम से पुकारा है।

(४) इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् के सृष्ट्युत्पत्ति प्रकरण में भी "सोऽकामयत्......" ऐसा पाठ आया है। जिस का अर्थ यह है कि परमात्मा ने कामना की कि मैं सृष्टि को रचूँ। अतः वैदिक सिद्धान्त के अनुसार कामनामय-जीवन अर्थात् काम-यज्ञ से प्रेरित जीवन उत्तम गिना गया है।

निरीह—जीवन, तथा असत्कामनाओं अथवा अयज्ञमयी कामनाओं द्वारा प्रेरित जीवन, वैदिक दृष्टि से तुच्छातितुच्छ है।

(५) मन्त्र में यह भी बतलाया है कि काम, बल से प्रतिष्ठित है। जैसे हम कहें कि अमुक व्यक्ति विद्या से प्रतिष्ठित है, अमुक धन से प्रतिष्ठित है, अमुक राजमान से प्रतिष्ठित है, अमुक लोकमान से प्रतिष्ठित है, इसी प्रकार का यह भी वचन है कि "काम, बल से प्रतिष्ठित है"। अर्थात् लोक में कामना की यह प्रतिष्ठा है कि कामनाओं से बल प्राप्त होता है। ऊपर बतलाया गया है कि मन्त्र में उत्तम कामनाओं का ही वर्णन है, निकृष्ट कामनाओं का नहीं। चूंकि इन कामनाओं के करने वाले का नाम यजमान रक्खा गया है। यजमान कहते हैं यज्ञ करने वाले को। और यज्ञ नाम है उत्तम कर्मों का, न कि निकृष्ट कर्मों का। यह बात लोक द्वारा सिद्ध है कि शुभ कामना और शुभ कार्य करने वालों के चित्त और आत्मा बहुत दृढ़ तथा बलवान् होते हैं।

(६) काम को मन्त्र में विभु कहा है। सृष्टि में, जड़ तथा चेतन प्रत्येक की चेष्टा में, मूलभूत कामना अवश्य दीखती है। चेतनों की प्रवृत्तियां काममूलक अर्थात् इच्छा-प्रेरित हैं। ज्ञान, इच्छा और यत्न—ये प्रवृत्ति के कारण हैं, ऐसा सभी दर्शनकार मानते हैं। उठना बैठना, चलना ठह-

रना, खाना पीना, पढ़ना पढ़ाना आदि सब प्रवृत्तियों का कारण इच्छा है, यह बात हरएक मनुष्य अपने चित्त में अनुभव कर सकता है। जड़ जगत् में वर्त्तमान नियम, व्यवस्था आदि चिह्नों से यही अनुमान होता है कि जड़ जगत् भी किसी ज्ञानी, कामना वाले तथा प्रयत्नशील चेतन की कृति है; इसे ही "सेश्वर-जगत्कारणवाद" कहते हैं। चूंकि सृष्टि-यन्त्र के हरएक पुर्जे की रचना तथा उन के परस्पर सम्बन्ध में कामना का स्पष्ट प्रमाण मिल रहा है। अतएव काम विभु है, अर्थात् काम की सर्वत्र सत्ता है ऐसा वर्णन इस मन्त्र में किया है।

(७) काम विभावा अर्थात् तेजस्वी है। कामनाओं वाला मनुष्य संसार में आश्चर्यजनक कार्यों को कर दिखाता है। जिस के अन्दर कामनाएं ही नहीं उसने कार्य्य क्या करना हुआ। वेद में लिखा है "विभून् कामान् व्यश्नवै" यजु० अ० २० मं० २३। अर्थात् मैं व्यापक कामनाओं को प्राप्त होऊं। "सब संसार का उपकार करूं" "सब संसार सुखी हो जावे"—इस प्रकार की सर्वविषयक कामनाएं विभुकामनाएं हैं। "इन कामनाओं के कारण ही बड़े २ महात्मा तेजस्वी बने हैं।

(८) कामनाओं के साथ जो मित्रता करना चाहता है कामनाएं भी उसी का मित्र बनती हैं अन्य का नहीं। अर्थात्

उसी व्यक्ति के चित्त-मन्दिर में कामना-देवी का निवास होता है जो इस देवी का आतिथ्य, सत्कार तथा आह्वान करता है। जो निरीह हैं कामनाएं भी उन से दूर ही रहती हैं।

(९) कामनाओं की प्रबलता के कारण ही बड़े बड़े कार्य संसार में होते हैं। युद्धों में विजय पाना भी कामनाओं वाले का ही काम है। इसीलिये मन्त्र में कहा है कि "पृतनासु सासहिः"।

(१०) इस कामना-यज्ञ के करने वाले यजमान को कामना-देवता प्रसन्न होकर बल और पराक्रम देती है।

चौथा प्रकरण

ब्रह्मचर्याश्रम

आचार्य माता है

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः॥
अथर्व० ११।५।३॥

(आचार्यः) आचार्य (उपनयमानः) उपनयन संस्कार कराता हुआ (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (अन्तर्गर्भम्) अन्तर्गर्भ की न्याईं (कृणुते) करता है। (तम्) उस ब्रह्मचारी को (तिस्रः) तीन (रात्रीः) रातें (उदरे) पेट में (बिभर्ति) धारण करता और उस का पोषण करता है, (जातम्) आचार्य के पेट से पैदा हुए (तम्) उस ब्रह्मचारी को (द्रष्टुम्) देखने के लिये (देवाः) देव लोग (अभिसंयन्ति) मिल कर जाते हैं॥ ५२॥

भावार्थः--(१) मन्त्र में ब्रह्मचर्याश्रम का वर्णन है।

ब्रह्मचर्य आश्रम का मुखिया आचार्य है। ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए ब्रह्मचारी के प्रति उसके आचार्य के क्या कर्तव्य हैं इसका निर्देश "आचार्य" पद ही कर रहा है। यास्काचार्य ने निरुक्त अ० १ खं० ४ में आचार्य का लक्षण या व्युत्पत्ति निम्नस्थ प्रकार से की है—"आचार्यः कस्मात्?, आचारं ग्राहयति, आचिनोत्यर्थान्, आचिनोति बुद्धिमिति वा"। अर्थात् "आचार्य कैसे?, आचार के ग्रहण कराने से, अर्थों के तथा बुद्धि के संचय कराने से"। इस उपरोक्त लेख से स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि वैदिक सिद्धान्त में शिक्षा के तीन हिस्से हैं। (क) विद्यार्थी को सदाचारी बनाना। (ख) विद्यार्थी के मन में पदार्थों के बोध का संचय कराना। (ग) तथा विद्यार्थी में बुद्धिशक्ति का पैदा करना। वस्तुतः इन तीन हिस्सों में ही शिक्षा पूरी हो जाती है। सदाचार, ज्ञान और बुद्धि ये तीन ही शिक्षा के मुख्य अङ्ग हैं। पुस्तक पढ़ लेने से ज्ञान तो हो सकता है, परन्तु उस से बुद्धिशक्ति भी अवश्य पैदा होगी यह आवश्यक नहीं। बुद्धिशक्ति पुस्तक पढ़ने मात्र से नहीं हो सकती। इस की प्राप्ति के लिये मनन की आवश्यकता है। भारत की वर्तमान शिक्षा में अधिक बल केवल ज्ञान पर और वह भी अधूरे ज्ञान पर ही दिया जाता है। परन्तु वैदिक शिक्षा-पद्धति में सदाचार, ज्ञान और बुद्धिशक्ति इन तीनों पर ही अधिक बल है।

(२) उपनयमानः पद उपनयन संस्कार का मूल है। उपनयमानः पद में "उप+नी+आन" ये तीन टुकड़े हैं। उप=समीप, नी=लाना। अतः उपनयमानः का अर्थ हुआ "ब्रह्मचारी को अपने समीप लाता हुआ आचार्य"। अतः उपनयन वह संस्कार विशेष है, जिस द्वारा आचार्य ब्रह्मचारी को अपने समीप लेता है। संस्कृत में शिष्य का नाम है— अन्तेवासी। अन्तेवासी का अर्थ है—समीप बसने वाला। अन्तेवासी और उपनयमानः ये दोनों पद गुरु शिष्य के निरन्तर साथ साथ रहने को दर्शा रहे हैं। वैदिक ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी आचार्य के पास ही रह कर विद्या और सदाचार का ग्रहण करता है। और वह जब तक विद्या और सदाचार का ग्रहण कर न ले तब तक आचार्य के आश्रम में ही रहता है।

(३) ब्रह्मचारी जिस समय गुरु के चरणों में आजाय तब गुरु उसकी पूर्ण रक्षा में सावधान रहे। माता जिस प्रकार अपने उदरस्थ गर्भ की रक्षा करती है, उसी प्रकार आचार्य भी इस शिष्य-पुत्र की रक्षा करे। यह भाव अन्तर्गर्भ पद द्वारा सूचित होता है। ब्रह्मचारी के लिये मन्त्र में "अन्तर्गर्भ" पद देना इस बात को भी सूचित कर रहा है कि ब्रह्मचारी अभी इस अवस्था में नहीं कि वह अपनी रक्षा आप कर सके। आचार्य उसे अन्तर्गर्भवत् समझ उसकी यथावत् रक्षा करे।

(४) आचार्य उस ब्रह्मचारी को तीन रात तक अपने उदर में रखता है। दिन और रात में अधिक सुरक्षा रात के समय चाहिये। वसु, रुद्र और आदित्य के तीन काल ही तीन रातें हैं। ब्रह्मचारी जब तक ब्रह्मचर्याश्रम में है तब तक मानो कि वह रात्रिकाल में है, क्योंकि अभीतक उसके हृदय में विद्यासूर्य का पूर्ण प्रकाश नहीं हुआ। अतः उस समय आचार्य द्वारा रक्षा की परम आवश्यकता है। उत्कृष्ट ब्रह्मचारी वह है जो कि तीन रात आचार्य के उदर में शयन करता अर्थात् आचार्य की पूर्ण सुरक्षा में रहता है। अर्थात् जो तीसरे दर्जे के ब्रह्मचर्य को पूर्ण कर आदित्य नाम वाला होता है।

(५) इस प्रकार का ब्रह्मचारी जब पैदा होता है, अर्थात् आचार्य के उदर अर्थात् रक्षा से निकल कर जब वह संसार में आता है तब गुणीजन उसके दर्शन के लिये टोलियां बांध बांध कर आते हैं। यह भाव "अभिसंयन्ति देवाः" इन पदों से सूचित हो रहा है। अतः संक्षेपतः उपरोक्त मन्त्र में निम्नलिखित भाव वर्णित हैं:—

१—आचार्य ब्रह्मचारी का उपनयन संस्कार करावे, जिसका अभिप्राय यह है कि वह ब्रह्मचारी को सदैव अपने आश्रम में रक्खे।

२—आचार्य ब्रह्मचारी की ऐसी रक्षा करे, जैसे कि माता अपने उदरस्थ बालक की रक्षा करती है।

३—उत्कृष्ट ब्रह्मचर्य तीन रात का है अर्थात् तीसरे दर्जे का।

४—ऐसे आदित्य-ब्रह्मचारी की सब लोग मान और पूजा करते हैं।

शिक्षक स्वयं ब्रह्मचारी हो

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद्वशी॥

अथर्व० ११। ५। १६॥

(आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी है, (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (प्रजापतिः) प्रजापति है। (प्रजापतिः) प्रजापति (विराजति) विराट् है, (विराट्) विराट् (वशी) संयमी होकर (इन्द्रः) इन्द्र (अभवत्) हो गया है॥५३॥

भावार्थः—मन्त्र कुछ अस्पष्ट सा है। तो भी इस के निम्नलिखित भाव प्रतीत होते हैं:—

(१) आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये। गृहस्थी को

आचार्य होने का अधिकार नहीं। आचार्य वही हो सकता है जो या तो प्रथम से ही ब्रह्मचारी हो या गृहस्थाश्रम के उपरान्त तृतीयाश्रम का निवासी हो। गृहस्थी, ब्रह्मचारी को पैदा नहीं कर सकता। ब्रह्मचारी ही ब्रह्मचारी को पैदा कर सकता है। जो स्वयं भोगी है वह त्यागियों को कैसे पैदा करेगा। यतः आचार्य के फीके उपदेशों का उतना असर ब्रह्मचारी पर नहीं हो सकता जितना कि आचार्य के रहन सहन का अर्थात् उसके क्रियात्मक जीवन का। अतः ब्रह्मचारी को ब्रह्मचारी बनाने के लिये यह आवश्यक है कि आचार्य स्वयं भी ब्रह्मचारी हो।

(२) ब्रह्मचारी प्रजापति, प्रजापति विराट्, तथा विराट् वशी होकर इन्द्र हो गया। यदि मन्त्र के चौथे चरण में का "अभवत्" पद सब के साथ जोड़ दिया जाय तो मन्त्र निम्नलिखित रूप में होजायगा।

यथाः—आचार्यः ब्रह्मचारी अभवत्, ब्रह्मचारी प्रजापतिरभवत्, प्रजापतिर्विराडभवत्, विराडिन्द्रोऽभवद्वशी। अर्थात् आचार्य ब्रह्मचारी होगया, ब्रह्मचारी प्रजापति होगया, प्रजापति विराट् होगया और विराट् वशी होकर इन्द्र होगया।

इस मन्त्र में प्रथम चरण को अलग कर विचार करना चाहिये। प्रथम चरण है "आचार्यो ब्रह्मचारी [अभवत्]"।

इस चरण में केवल यही दर्शाया है कि आचार्य कैसा होना चाहिये। "आचार्य ब्रह्मचारी हो गया" यह इस चरण का अर्थ है। इस का अभिप्राय क्या? । इस का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि गृहस्थी यदि आचार्य-पदवी पर आरूढ़ होना चाहे तो आचार्य-पदवी पर आरूढ़ होने के पूर्व उसे ब्रह्मचारी बन जाना चाहिये। अर्थात् आचार्य-पदवी के इच्छुक व्यक्ति को अपना गृहस्थाश्रम छोड़कर वानप्रस्थी हो जाना चाहिये। यह असूल वास्तव में बहुत उत्तम है। शिक्षा ही जीवन का आधार है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय या सार्वभौम सभी प्रकार के जीवनों की नींव शिक्षा है। जैसी शिक्षा वैसा जीवन। इसलिये ब्रह्मचर्य्यशिक्षा के यथार्थ महत्त्व को दृष्टिगत करते हुए ही वेद ने यह आज्ञा दी है कि "आचार्य को ब्रह्मचारी" हो जाना चाहिये।

गुरु स्वयं भी यदि ब्रह्मचारी हो तो उत्तम शिक्षा निम्न-प्रकार से हो सकती है—(क) वह आचार्य जिस को कि अपने परिवार का फ़िक्र नहीं अपने विद्यार्थी के निरीक्षण में अपना सारा समय दे सकता है। (ख) आचार्य, जिसको कि परिवार-पालन की चिन्ता नहीं अपनी सारी शक्ति तथा विचार को ब्रह्मचारी की उन्नति में अर्पित कर सकता है। (ग) आचार्य जो कि गृहस्थ का अनुभव करने के बाद

वानप्रस्थ होकर ब्रह्मचारियों को शिक्षा करता है वह जीवन का क्रियात्मक पहलू भी ब्रह्मचारी के सामने रख सकता है। वह अपने ज्ञान तथा अनुभव से ब्रह्मचारी को जीवन का उत्तम मार्ग दिखा सकता है। (घ) ऐसा आचार्य ब्रह्मचारियों के सर्वदा समीपस्थ होता हुआ भी उन के साथ कुचेष्टाओं से अपने आप को बचा सकता है। अतः वेद में यद्यपि वर्णन इतना ही आता है कि ब्रह्मचारी ही आचार्य होता है अब्रह्मचारी नहीं, तो भी उसी ब्रह्मचारी को आचार्य होने का हक़ प्रतीत होता है, जो कि गृहस्थाश्रम से तृतीयाश्रम में प्रविष्ट होकर पुनः ब्रह्मचारी हुआ है। इसी प्रकार इस मन्त्र के प्रथम चरण में "अभवत्" पद चरितार्थ हो सकता है।

ऊपर के मन्त्र के अवशिष्ट तीन चरणों में निम्नलिखित चार दर्जे स्पष्ट प्रतीत हो रहे हैं। (क) ब्रह्मचारी, (ख) प्रजापति, (ग) विराट्, (घ) इन्द्र। ब्रह्मचारी प्रजापति हो गया, प्रजापति विराट् हो गया और विराट् संयमी होकर इन्द्र हो गया अथवा संयमी इन्द्र हो गया, यह वर्णन स्पष्ट रूप से चार आश्रमों के क्रम की ओर निर्देश करता हुआ प्रतीत होता है। ब्रह्मचारी पद से तो कोई और अर्थ लिया ही नहीं जा सकता। अतः ब्रह्मचारी पद तो ब्रह्मचर्य्यावस्था या ब्रह्मचर्याश्रम का स्पष्ट निर्देश कर रहा है इस में किसी को

सन्देह का अवसर नहीं। प्रजापति का अर्थ गृहस्थी होना भी संभव है। पारिवारिक जीवन में प्रजा या संतानों का पति (रक्षक) गृहस्थी ही होता है। प्रजापति का अर्थ गृहस्थी भी होता है इसके लिये देखो इसी पुस्तक का अतिथिप्रकरण।

विराट् पद तीसरे आश्रम अर्थात् वानप्रस्थ को सूचित करता प्रतीत होता है। यह विराट् जब और अधिक संयमी बन जाता है तो वह इन्द्र हो जाता है। इन्द्र से यहां सन्यासी का अभिप्राय है। अतः मन्त्र के पहिले चरण में तो आचार्य कैसा हो इस का वर्णन है और शेष तीन चरणों में चार आश्रमों का क्रम से वर्णन है।

राष्ट्ररक्षा के उपाय

(१) ब्रह्मचर्य (२) तप

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते॥

अथर्व० ११। ५। १०॥

(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राष्ट्र की (विरक्षति) विशेष

प्रकार से रक्षा करता है। (आचार्यः) आचार्य (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य द्वारा (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी को (इच्छति) चाहता है ॥ ५४ ॥

भावार्थः— (१) राजा स्वयं कृतब्रह्मचर्य तथा तपस्वी होना चाहिये।

(२) वह प्रजा में ब्रह्मचर्य के प्रचार तथा प्रजा के तपोमय जीवन द्वारा प्रजा की उत्तम रक्षा कर सकता है।

(३) आचार्य जब ब्रह्मचारी की इच्छा करे तब उस आचार्य को स्वयं भी ब्रह्मचारी होना चाहिये। उस समय वह गृहस्थ-वृत्ति न हो।

अब्रह्मचारी को विवाह का अनधिकार

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥

(कन्या) कन्या (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य द्वारा युवति होकर, (युवानम्) ब्रह्मचर्य द्वारा युवा (पतिम्) पति को (विन्दते) पाती है। (अनड्वान्) बैल (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य द्वारा ही शकट का वहन करता तथा (अश्वः) घोड़ा (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य द्वारा ही (घासम्) शत्रु को घास सदृश जान उस पर (जिगीषति) विजय पाता है ॥ ५५ ॥

भावार्थः—(१) गृहस्थाश्रम का अधिकार ब्रह्मचारी पुरुष तथा ब्रह्मचारिणी स्त्री को ही है। जिन्हों ने प्रथम आयु में ब्रह्मचर्य नहीं किया, उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने का अधिकार नहीं।

(२) यह भी आवश्यक है कि स्त्री और पुरुष युवा होकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें, इस से पूर्व नहीं।

(३) ब्रह्मचर्य की इतनी महिमा है कि बिना ब्रह्मचर्य के बैल शकट को नहीं खैंच सकता और घोड़ा शत्रु पर विजय नहीं करा सकता। जब पशुओं तक में ब्रह्मचर्य की इतनी महिमा है फिर मनुष्य-जीवन में तो उसकी महिमा का क्या ही कहना है।

मृत्यु पर विजय के साधन

(१) ब्रह्मचर्य (२) तप

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वरामरत् ॥
अथर्व० ११। ५। १६ ॥

(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य और (तपसा) तप के द्वारा (देवाः) देवों ने (मृत्युम्) मृत्यु को (उपाघ्नत) नष्ट कर

दिया है। (इन्द्रः) इन्द्र (ह) निश्चय से (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य के द्वारा (देवेभ्यः) देवों के लिये (स्वः) सुख (आभरत्[1]) लाया है ॥ ५६ ॥

भावार्थः—(१) मन्त्र में देव से अभिप्राय इन्द्रियों का है। ब्रह्मचर्य द्वारा इन्द्रियों की अकाल मृत्यु नहीं होती। इन्द्रियशक्तियों को १०० वर्षों से पूर्व खो बैठना ही उनकी अकाल मृत्यु है। ब्रह्मचर्य द्वारा इन्द्रियों की शक्तियां पूर्ण समय तक बनी रहती हैं। इन्द्रियों की शक्तियों का १०० वर्षों तक, बल्कि इस से भी अधिक काल तक स्थिर रहना, ब्रह्मचर्य और तप के बिना नहीं हो सकता।

(२) तथा इन्द्र अर्थात् जीवात्मा ब्रह्मचर्य के द्वारा ही, इन्द्रियों को सुखी बना सकता है, अन्यथा नहीं। इन्द्र नाम जीवात्मा का है। यथाः—इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमित्यादि पाणिनि-सूत्र, अ० ५। पा० २। सू० ९३ ॥ इन्द्रियों का इन्द्रिय नाम भी इसीलिये है कि ये इन्द्र अर्थात् जीवात्मा के लिङ्ग हैं। इन के द्वारा जीवात्मा का अनुमान होता है।

(३) ब्रह्मचर्य दो प्रकार का है। एक तो देवों अर्थात्

---

१. आभरत् में ह के स्थान में भ हुआ जानना चाहिये। अतः आभरत्=आहरत् ॥

इन्द्रियों का और दूसरा इन्द्र अर्थात् जीवात्मा का। बाह्य इन्द्रियों को विषयों में न जाने देना इन्द्रियों का ब्रह्मचर्य है। परन्तु आत्मा में अनुचित विषयों के भाव तक भी न उठने देना इन्द्र का या जीवात्मा का ब्रह्मचर्य है। पहले प्रकार के ब्रह्मचर्य से इन्द्रियां नाश से बच जाती हैं और दूसरे प्रकार के ब्रह्मचर्य से इन्द्रियां आनन्दमग्न हो जाती हैं। ब्रह्मचारी-इन्द्र की इन्द्रियों के लिये समग्र संसार ही आनन्दमय जान पड़ता है। यही भोगी और योगी में अन्तर है। भोगी, संसार के भोगों में रमा हुआ भी दुःखी है। परन्तु योगी, जिस ने कि संसार के भोगों पर विजय पा लिया है, संसार के सतत परिवर्तनों में भी अत्यन्त सुखी है।

पांचवां प्रकरण

गृहस्थाश्रम और गृहस्थव्यवहार

अब्रह्मचारी को विवाह का अनधिकार

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येकमङ्गम् ।
तेन जायामन्वविन्दद्बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुहूं न देवाः ॥
अथर्व० ५ । १७ । ५ ॥

(विषः) सेवाओं को (वेविषत्) निरन्तर करता हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (चरति , विचरता है, (सः) वह ब्रह्मचारी (देवानाम्) दिव्यगुणों का (एकम्) मुख्य (अङ्गम्) आश्रय (भवति) होता है । (तेन) इसलिये (बृहस्पतिः) वेद-रक्षक ब्रह्मचारी (अनु) ब्रह्मचर्याश्रम के बाद (जायाम्) जाया को (अविन्दत्) प्राप्त करता आया

---

[१] परिवेषक, परिवेषिका, तथा परिवेषण में विष् धातु का जो अर्थ प्रतीत होता है वही, सामान्यरूप से, सेवा अर्थ, यहां लिया गया है ।

है, जो कि (सोमेन) सौम्यगुणों से (नीताम्) प्राप्त है अर्थात् जो सौम्यगुणों वाली है। (देवाः) विद्वान् लोग (जुहूम्) जुहू को (न) जैसे प्राप्त करते हैं ॥ ५७ ॥

भावार्थः—(१) वेविषत्ः-ब्रह्मचारी प्रजा की सेवा करता है। जिस ब्रह्मचारी ने ब्रह्मचर्याश्रम में भिक्षान्न द्वारा अपने देह और इन्द्रियों को पुष्ट किया और मानसिक तथा आध्यात्मिक शिक्षा को प्राप्त किया है, वह ब्रह्मचर्याश्रम को समाप्त कर जनता के उपकारों को कभी भी भूल नहीं सकता। अतः वह निरन्तर किसी न किसी रूप में जनता की सेवा अवश्य करता रहता है।

(२) देवानाम्ः-ब्रह्मचारी में दिव्य गुण रहते हैं। ब्रह्मचर्य के बिना दिव्य गुणों की प्राप्ति नहीं हो सकती। मन्त्र में अङ्ग से अभिप्राय आश्रय का है। यथा अङ्गाङ्गिभाव पद में आश्रयाश्रयिभाव अर्थ द्योतित होता है। अङ्ग, अङ्गी के आश्रय हुआ करते हैं। जैसे अवयव अवयवी के आश्रय होते हैं। अवयवी अवयवों में रहता है न कि अवयव अवयवी में। अतः अङ्ग का अर्थ है, आश्रय। ब्रह्मचारी उत्तम गुणों का अङ्ग अर्थात् आश्रय होता है।

(३) बृहस्पतिः जायाम्ः—ब्रह्मचारी जब बृहस्पति बन

जाता है, तब उसका ब्रह्मचर्याश्रम समाप्त हो जाता है। और इस ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर वह गृहस्थाश्रम में प्रवेश का अधिकारी बनता है। एक, दो, तीन या चार वेदों के पढ़ने से बृहस्पति पदवी मिलती है। बिना एक वेद समाप्त किये ब्रह्मचर्याश्रम से गृहस्थाश्रम में जाने का अधिकार नहीं। बृहती का अर्थ है वाणी; और पति का अर्थ है—रक्षक। एक वेद पढ़ा हुआ निचले दर्जे का बृहस्पति होता है, और चारों वेद पढ़ा हुआ प्रथम कोटि का बृहस्पति होता है। तथा दो या तीन वेद पढ़े हुए मध्यम कोटि के बृहस्पति होते हैं।

मनु महाराज ने भी गृहस्थ में प्रवेश की दो शर्तें रक्खी हैं। (क) एक, दो या सब वेदों को समाप्त करना, (ख) तथा अविप्लुत ब्रह्मचारी होना। यथाः—

"वेदानधीत्य वेदौ वा वेदं वाऽपि यथाक्रमम्।
अविप्लुतब्रह्मचर्यो गृहस्थाश्रममाविशेत्॥
अ० ३। श्लो० २॥"

अतः ब्रह्मचारी और बृहस्पति होना ये दो शर्तें हैं, जिन का पूरा करना, गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिये अत्यावश्यक है। ब्रह्मचारी पद तो व्यक्ति की शारीरिक, ऐन्द्रियिक और आत्मिक अवस्था दर्शाता है तथा बृहस्पति पद उस की

मानसिक अर्थात् विद्यासम्बन्धी अवस्था दर्शाता है। गृहस्थी यदि शरीर और इन्द्रियों में परिपुष्ट तथा विद्यावान् हो तो गृहस्थ स्वर्गधाम और सर्वोत्कृष्ट बन सकता है।

(४) सोमेनः—जाया सौम्य गुणों वाली होनी चाहिये। शरीर और स्वभाव म कठोर स्त्री विवाह में प्रशस्त नहीं।

(५) जुहं देवाः—यज्ञ कराने में विद्वानों का अधिकार है, अविद्वानों का नहीं। यज्ञ में जुहू एक प्रकार का चमस हाता है जिससे आहुति डाली जाती है। जुहू यज्ञ का साधन है। विना जुहू के यज्ञ नहीं हो सकता। गृहस्थ-यज्ञ में जाया जुहूस्थानापन्न है। जायारूपी जुहू के विना गृहस्थ-यज्ञ नहीं हो सकता। अतः वृहस्पति, गृहस्थ-यज्ञ के करने के लिये, जाया रूपी जुहू को स्वीकार करता है न कि कामभोग के लिये। इस रूपक से गृहस्थधर्म की पवित्रता का भाव समझ में आ सकता है।
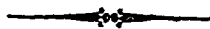
गृहस्थ सम्बन्ध का उद्देश्य

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या।
त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति॥
अथर्व० ६। ८१। ३॥

(पुत्रकाम्या) पुत्र की कामना वाली तथा (अदितिः) अखण्डिता अर्थात् अखण्डितव्रता स्त्री ने (यम्) जिस (परिहस्तम्) हाथ का सहारा देने वाले पति को (अविभः) धारण अर्थात् स्वीकार किया है। (त्वष्टा) उत्पत्ति के अधिष्ठाता परमात्मा ने (तम्) उस पति को (अस्यै) इस पत्नी के लिये (आवध्नात्) दृढ़ बद्ध किया है, (यथा) जिस से पत्नी (पुत्रम्) पुत्र को (जनात्) पैदा करे (इति) यही प्रयोजन है ॥ ५८ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में निम्नलिखित भावों पर ध्यान देना चाहिये—

(१) परिहस्तः—इस पद से यह सूचित किया है कि स्त्री उसी पुरुष को पतिरूप से स्वीकार करे, जो उसे सहारा दे सके अर्थात् उस की रक्षा कर सके।

(२) अविभः—आदि पद इस बात को सूचित कर रहे हैं कि अपने भावी पति के चुनाव का स्त्री को अवश्य अधिकार है।

(३) अदितिः—यह पद "दो" धातु से बना है, जिस का अर्थ है—खण्डन। अतः अदिति का अर्थ है—अखण्डिता। इस

से यह सूचित होता है कि स्त्री अखण्डितब्रह्मचर्या अर्थात् अक्षत-योनि होनी चाहिये । खण्डितब्रह्मचर्या का विवाह नहीं हो सकता ।

(४) पुत्रकाम्याः—इस पद से यह सूचित होता है कि विवाह का उचित समय वही है जब कि स्त्री और पुरुष के हृदय में पुत्र प्राप्ति की कामना जागृत हो । अर्थात् पुत्रकामना की जागृति के पूर्व विवाह न होना चाहिये । अनुभवी सज्जन स्वयं विचार कर सकते हैं कि यह पुत्रकामना किस आयु में होनी स्वाभाविक है । वह काल ही विवाह के लिये योग्य होगा । हमारे आयुर्वेद के ग्रन्थों में यह काल स्त्री के लिये १६ वर्षों से ऊपर तथा पुरुष के लिये २४ वर्षों से ऊपर नियत किया है । पुत्रकाम्या पद से यह भी सूचित किया है कि विवाह में प्रेरकभाव सन्तानोत्पत्ति होना चाहिये न कि भोग या विषय-लोलुपता ।

(५) आरभ्णातुः—यह पद स्पष्ट सूचित कर रहा है कि वैदिक गृहस्थ मर्यादा में पति पत्नी का बन्धन बहुत दृढ़ है । उन का दाम्पत्य संबन्ध अटूट है । इस में तलाक के बहाने का अवसर नहीं ।

(६) यथा पुत्रं जनादिति—इस वाक्य से भी यह स्पष्ट निर्देश किया है कि परमात्मा ने पति का पत्नी के साथ जो

दृढ़ बन्धन किया है उस का यही प्रयोजन है कि संतानोत्पत्ति की जाय न कि भोग। यद्यपि विना भोग के संतानोत्पत्ति असम्भव है, तथापि इस वाक्य का यह अभिप्राय है कि भोगेच्छा का परिणाम सन्तानोत्पत्ति न हो अपितु सन्तानोत्पत्त्यभिलाषा का परिणाम भोगेच्छा हो। गौण उद्देश्य को प्रधान तथा प्रधान उद्देश्य को गौण कर देने से संसार में महान् अनर्थ होते हैं।

(७) वैदिक साहित्य में त्वष्टादेव गर्भोत्पत्ति, रूपसौन्दर्य निर्माण, तथा अवयव निर्माण के अधिष्ठाता हैं। अतः इन कार्यों का करने वाला परमात्मा ही यहां त्वष्टा पद से सूचित किया गया है।

गर्भाधान के समय पुरुष में श्रेष्ठ भावों का सञ्चार होना चाहिये

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमाधेहि दशमे मासि सूतवे ॥
अथर्व० ५ । २५ । १० ॥

(धातः) हे गर्भाधान करनेवाले पति ! तू (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) स्वरूप में वर्तमान होकर, (अस्याः) इस

(नार्याः) नारी की (गवीन्योः) गर्भाशयस्थ दो नाड़ियों में (पुमांसम्) पुमान् (पुत्रम्) पुत्र का (आधेहि) आधान कर, (दशमे) दसवें (मासि) महीने में (सूतवे) प्रसव होने के लिये ॥ ५९ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में 'धातः' पद गर्भाधान करने वाले के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। यतः 'धातः' और 'आधेहि' इन दोनों पदों का परस्पर सम्बन्ध है।

(२) श्रेष्ठेनः—गर्भाधान करने वाले के लिये कहा गया है कि तू गर्भाधान करते समय श्रेष्ठ रूप का अवलंबन कर। गर्भ-स्थापन के समय गर्भाधान करने वाले के भावों और विचारों का संतति पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः यदि गर्भा-धान करने वाला, विशेषतया गर्भाधान के समय, अपने चित्त में श्रेष्ठ भावों को जागृत करे तो सन्तान भी अवश्य श्रेष्ठ होगी। गर्भाधानसंस्कार का भी यही प्रयोजन है। इस प्रकार यथेच्छ पुत्र और पुत्रियों का पैदा करना भी गृहस्थी के अपने हाथों में ही है।

(३) दसवें मास की सन्तति प्रायः पुष्ट और नीरोग होती है। इसीलिये मन्त्र में दशमे मासि इन पदों का प्रयोग किया है।

गर्भाधान में मर्यादा का अतिक्रम न करना चाहिये

परिहस्त विधारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमाधेहि तं त्वमागमयागमे ॥
अथर्व० ६ । ८१ । २ ॥

(परिहस्त) हे हाथ का सहारा देने वाले पति ! (गर्भाय) गर्भ के (धातवे) धारण के लिये अर्थात् पत्नी में गर्भाधान के लिये (योनिम्) पत्नी की योनि को (विधारय) खुला कर । (मर्यादे) हे मर्यादे ! तू (पुत्रम्) पुत्र—बीज को (आधेहि) इस गर्भाशय में आधान कर, (तम्) और उस पुत्र को (त्वम्) तू (आगमे) आगमन समय [जब कि पुत्र को पैदा होना चाहिये उस समय] में (आगमय) ला अर्थात् पैदा कर ॥ ६० ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में परिहस्त पद से पति का वर्णन है । परिहस्त का विग्रह है 'परिदत्तो हस्तो येन' । अर्थात् जिसने पत्नी के सहारे के लिये अपना हाथ दिया है । 'हाथ देना' इस का अभिप्राय सहारा देना है । पति ही पत्नी का सहारा है ।

(२) मर्यादेः—इस मन्त्र में गर्भाधान का वर्णन है । पति जब गर्भाधान के लिये अपने आप को एक विशेष अव-

स्था में अवस्थित करता है उस समय वह अपने आप को म-र्यादारूप जाने। उस समय वह मर्यादा का आह्वान करे। ताकि वह निर्मर्याद कामों से बच सके। ऐसे समयों में मनुष्य प्रायः निर्मर्याद होजाते हैं। ऐसे ही समयों में मर्यादा के आह्वान की बड़ी आवश्यकता है।

(३) मन्त्रों में यह भी दर्शाया है कि मर्यादापूर्वक गृहस्थ धर्म पालने वाले दम्पती, पुत्र या पुत्री जैसी सन्तान चाहें वैसी ही प्राप्त कर सकते हैं। पुत्र और पुत्री प्राप्त करने की जो मर्यादा है केवल उसका उल्लंघन न होना चाहिये।

(४) आगमेः—वैदिक सिद्धान्तानुसार पुत्र का आगमन अर्थात् उत्पत्तिसमय १० वां महीना है। १० वें महीने तक गर्भ के सभी अङ्ग यथोचित परिपुष्ट हो जाते हैं। यथाः—

"*एजतु दशमास्यो गर्भः जरायुणा सह*" यजु० अ० ८। मं० २८॥ तथा "*दशमे मासि सूतवे*" अथर्व० ५।२५।१०॥

मर्यादापूर्वक जीवन व्यतीत करने पर गर्भ १० वें म-हीने में उत्पन्न होता है, यही वेद का अभिप्राय है।

छठा प्रकरण

पारिवारिक व्यवहार

एक दिल, एक मन तथा परस्पर प्रेमी बनो

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभिहर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥
अथर्व० ३ । ३० । १ ॥

हे गृहस्थो ! (वः) तुम्हारे लिये मैं (सहृदयम्) एक दिल होना, (सांमनस्यम्) एक मन होना, (अविद्वेषम्) तथा परस्पर द्वेष से रहित होना (कृणोमि) नियत करता हूं। (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे के (अभि) प्रति (हर्यत) प्रीति करो, (इव) जैसे (अघ्न्या) गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े के साथ प्रीति करती है ॥ ६१ ॥

भावार्थः—परमात्मा एक परिवार के लोगों को उपदेश देते हैं कि मैंने तुम सब के लिये यह मार्ग नियत किया है कि—

(१) तुम परस्पर एक दिल और (२) एक मन होकर रहो, तथा (३) परस्पर द्वेष न करो। अपितु (४) एक दूसरे के साथ ऐसी प्रीति करो जैसे गौ अपने नवजात बछड़े के साथ करती है।

मन्त्र में गौ का नाम अघ्न्या है। अघ्न्या का अर्थ है— न मारने योग्य। अतः गो-मेध का पौराणिक भाव वेदाभिमत नहीं, क्योंकि अघ्न्या पद ही गोघात का निषेधक है।
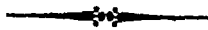
पिता, पुत्र और माता के तथा जायापति के परस्पर व्यवहार

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवान् ॥
अथर्व० ३। ३०। २॥

(पुत्रः) पुत्र (पितुः) पिता के (अनुव्रतः) अनुकूल वर्तने वाला और (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) हो। (जाया) धर्मपत्नी (पत्ये) पति के लिये (मधुमतीम्) मधुर और (शन्तिवान्) शान्तिदायक (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ ६२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में तीन उपदेश हैं। दो पुत्र के लिये और एक धर्मपत्नी के लिये।

(१) अनुव्रतः—पुत्र, पिता की इच्छा के अनुकूल वर्ते।

(२) संमनाः—और अपनी माता का दिल कभी न दुखावे।

(३) धर्मपत्नी अपने पति के लिये मधुरभाषिणी हो। उस के लिये कठोर वचनों का प्रयोग कभी न करे। तथा पति को दुःखित जान उस के दिल को शान्ति देनेवाले वचन बोले। मन्त्र में पुत्र शब्द से बालक और बालिका दोनों का ग्रहण है।

भाई बहिन परस्पर द्वेष न करें

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
अथर्व० ३। ३०। ३॥

(मा) न (भ्राता) भाई (भ्रातरं) भाई के साथ (द्विक्षत्) द्वेष करे और (मा) न (स्वसारम्) बहिन के साथ। (उत) तथा (स्वसा) बहिन (मा) न (भ्रातरम्)

भाई के साथ (द्विक्षत्) द्वेष करे और (मा) न (स्वसारम्) बहिन के साथ । तथा हे भाई बहिनो ! तुम (सम्यञ्चः) भले व्यवहार वाले तथा (सव्रताः) व्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) भद्ररीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ॥६३॥

भावार्थः—इस मन्त्र के निम्नलिखित भाव हैं—

(१) भाई, भाई के साथ द्वेष न करे। (२) भाई, बहिन के साथ द्वेष न करे । (३) बहिन, भाई के साथ द्वेष न करे। (४) बहिन, बहिन के साथ द्वेष न करे । (५) भाई और बहिन सदाचारी हों । (६) व्रती हों । (७) भद्रजन जिस रीति से वार्तालाप करते हैं उसी रीति से भाई बहिन परस्पर वार्तालाप किया करें ।

परिवार में वृद्धों की सेवा करो

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट संराधयन्तः सधुराश्चरन्तः । अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ अथर्व० ३ । ३० । ५ ॥

(ज्यायस्वन्तः) वृद्धजनों वाले तुम, (चित्तिनः) एकचित्त होकर (संराधयन्तः) और मिलकर कार्यों की सिद्धि

करते हुए, तथा (सधुराः) एकधुर होकर (चरन्तः) चलते हुए, (मा) मत (वियौष्ट) एक दूसरे से वियुक्त होओ। (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे के प्रति (वल्गु) प्रिय मधुर वाक्य (वदन्तः) बोलते हुए (एत) मिला करो, (वः) तुम को (सध्रीचीनान्) साथ मिलकर काम करने वाले (संमनसः) तथा एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूं ॥ ६४ ॥

भावार्थः—(१) ज्यायस्ः—तुम्हारे परिवार में बूढ़ों का वास हो। परिवार में बूढ़े माता पिताओं के वास से भाई और बहिनों में परस्पर द्वेषकलह की सम्भावना कम हो जाती है। तथा उन के अधिक अनुभवी होने की वजह से परिवार कई प्रकार के दुःखों और कष्टों से बचा रहता है। अतः इस मन्त्र में पारिवारिक जनों के प्रति परमात्मा ने उपदेश दिया है कि तुम वृद्धजनों वाले होओ। उन का निरादर तिरस्कार कर के उन्हें घर से बाहिर न कर दो।

(२) संराधयन्तः—अकेला मनुष्य कार्यसिद्धि भली प्रकार नहीं कर सकता। उसे मदद की जरूरत रहती है। इसलिये इस मन्त्र में उपदेश दिया है कि हे पारिवारिक जनो ! तुम इकट्ठे होकर कार्यों की सिद्धि करो।

(३) सधुराः—तथा परिवाररूपी रथ की एक धुरा में मिल कर कन्धे लगाओ।

(४) वियौष्टः—संपत्ति बांट कर अलग अलग न हो जाओ। इकट्ठे रहने में बहुत बुद्धिमत्ता है। साथ मिल कर कार्य करो। इस से हरएक परिवार छोटे रूप में एक सहोद्योगसमिति का काम दे सकता है।

(५) वल्गुः—जब जब मिलो तब तब प्रिय मधुर वाक्य परस्पर बोला करो। जैसे नमस्ते या अन्य कोई ऐसा वाक्य।

(६) संमनसः—तथा तुम सब बहुदेह और एकमन होकर रहो।

तुम्हारा खान पान और अग्निहोत्र इकट्ठा हो

समानी प्रपा सह वोऽन्नभागः समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः॥
अथर्व० ३। ३०। ६॥

(वः) तुम्हारी (प्रपा) पानशाला (समानी) एक हो, (अन्नभागः) तुम्हारा अन्न का भाग अर्थात् हिस्सा (सह)

इकट्ठा रहे, (समाने) एक (योक्त्रे) परिवार-रथ के जुए में (वः) तुम को (सह) इकट्ठा (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं। (सम्यञ्चः) यज्ञकुण्ड के चारों ओर इकट्ठे होकर (अग्निम्) अग्नि की (सपर्यत) सेवा किया करो, (इव) जैसे (अराः) अरे (नाभिम्) रथ-नाभ के (अभितः) चारों ओर होते हैं ॥ ६५ ॥

भावार्थः—(१) प्रपाः–हे एक परिवार में रहने वालो ! तुम्हारा अन्न-जल का स्थान एक ही हो। पृथक् पृथक् न हो। तुम अपनी २ अढ़ाई चावल की खिचड़ी मत पकाओ।

(२) योक्त्रेः–सम्पूर्ण गृह का भार एक व्यक्ति पर न हो। अपितु घर के सभी व्यक्ति गृहकृत्यों को इकट्ठे होकर किया करें।

(३) सम्यञ्चः—परिवार के सब लोग (स्त्री, पुरुष, बाल बच्चे तथा बूढ़े) यज्ञकुण्ड के चारों ओर मण्डलाकार बैठ कर परमात्मा का भजन और अग्निहोत्र करें।

(४) अराः—अरे जैसे रथ की नाभि के चारों ओर लगे रहते हैं वैसे ही पारिवारिक जन अग्निकुण्ड के चारों ओर मण्डलाकार में बैठ अग्निहोत्र करें।

अग्निहोत्र से मानसिक स्वास्थ्य तथा गृहशुद्धि होती है

सायं सायं गृहपतिर्नो अग्निः प्रातः प्रातः सौमनसस्य दाता।
वसोर्वसोर्वसुदान एधि वयं त्वेन्धानाः तन्वं पुषेम ॥
अथर्व० १९ । ५५ । ३ ॥

(गृहपतिः) गृह का रक्षक (अग्निः) आग (सायं सायं) हर सायंकाल (प्रातः प्रातः) और हर प्रातःकाल (नः) हम को (सौमनसस्य) मानसिक स्वास्थ्य का (दाता) देने वाला हो। (वसुदानः) निवास-स्थान की शुद्धि करने वाले हे अग्नि ! तू (वसोः वसोः) हर एक निवासस्थान में विद्यमान (एधि) हो, (त्वा) तुझे (इन्धानाः) प्रदीप्त करते हुए (वयम्) हम (तन्वं) शरीर को (पुषेम) पुष्ट करें ॥ ६६ ॥

भावार्थः—(१) सायं प्रातः—प्रति सायं और प्रति-प्रातः अर्थात् दिन में दो वार अग्निहोत्र करना चाहिये।

---

(१) पा=रक्षणे। (२) दान शब्द दैप् धातु से बना है। अतः दान का अर्थ है शुद्धि करने वाला। (३) वसु=निवासस्थान=घर।

(२) वसुदानः—अग्निहोत्र से गृह-शुद्धि होती है।

(३) गृहपतिः—इस प्रकार अग्नि, गृह-शुद्धि द्वारा, गृह का रक्षक होता है।

(४) सौमनसत्वः—अग्निहोत्र से मानसिक स्वास्थ्य भी पैदा होता है। अर्थात् मन के रोग दूर हो जाते हैं और मन में नीरोगता पैदा होती है।

(५) वसोर्वसोः—अग्निहोत्र प्रत्येक घर में होना चाहिये।

(६) तन्वम्ः—अग्निहोत्र से शारीरिक पुष्टि होती है।

सच्चाई से ऐश्वर्य की समृद्धि तथा जाया के प्रति मीठी वाणी

युवं भगं संभरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।
ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम्॥
अथर्व० १४। १। ३१॥

हे वधू और वर! (युवम्) तुम दोनों (ऋतोद्येषु) व्य-

---

(१) ऋत+वद्+क्यप्। अर्थात् जिन में सत्य ही बोलना चाहिये ऐसे व्यवहार।

वहारों में (ऋतम्) सत्य (वदन्तौ) बोलते हुए (समृद्धम्) समृद्ध (भगम्) ऐश्वर्य को (संभरतम्) इकट्ठे होकर एकत्रित करो। (ब्रह्मणस्पते) हे वेदरक्षक प्रभो ! (पतिम्) पति को (अस्यै) इस पत्नी के लिये (रोचय) रुचिकर करो, (संभलः) सम्यग्भाषी पति (एताम्) इस पत्नी के प्रति (चारु) मनोहर रीति से (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ ६७ ॥

भावार्थः—(१) ऋतोद्यः—वैदिक भाषा में व्यवहारों का नाम "ऋतोद्य" है। ऋतोद्य का अर्थ है–जिनमें कि सत्य ही बोलना चाहिये। "ऋतोद्य" इस नाम से ही पता लग रहा है कि वैदिकधर्म व्यवहारों में कभी भी झूठ बोलने की आज्ञा नहीं देता।

(२) संभरतम्ः—पति और पत्नी सत्य बोलते हुए प्रभूत ऐश्वर्य को इकट्ठा करें। वैदिक धर्म में धनोपार्जन को घृणित काम नहीं समझा गया। हां, उलटे रास्तों से धन कमाना अवश्य घृणित है।

(३) युवम्ः—पत्नी भी धनोपार्जन में सहायक हो। इसी भाव को द्योतित करने के लिये द्विवचन का प्रयोग "युवम्" मन्त्र में रक्खा है।

---

(१) सम+हृ+लोट्। (२) भल=परिभाषणे।

(४) भगम्ः—भग शब्द के ६ अर्थ हैं। ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान, वैराग्य। तो भी इस मन्त्र में भग शब्द से ऐश्वर्य का ग्रहण ही प्रतीत होता है।

(५) रोचयः—पति, पत्नी के लिये अरुचिकर न हो। पति ऐसे कार्य न करे, जिससे पत्नी के दिल में पति के लिये मान प्रतिष्ठा का भाव न रहे।

(६) चारुः—पति, पत्नी के लिये सम्यक् तथा मधुर-भाषी हो। पति, अपनी पत्नी को कभी भी असभ्य वचनों से न सम्बोधित करे। सदैव सभ्यता भरी वाणी का उसके लिये प्रयोग करे।

पति और पत्नी में प्रेम

यद्यज्जाया पचति त्वत्परः परः पतिर्वा जाये त्वत्तिरः।
सं तत्सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम्॥
अथर्व० १२। ३। ३९॥

हे पति! (जाया) पत्नी (यद्यत्) जो जो (त्वत्) तुमसे (परः परः) अलग अलग [परे होकर या छिप-कर] हो कर (पचति) पकाती है, (वा) या (जाये) हे

पत्नि ! (पविः) पति (त्वत्) तुझसे (तिरः) छिप छिप कर पकाता है, (एकम्) एक (लोकम्) गृहस्थ-लोक को (सह) मिलकर (सम्पादयन्तौ) सम्पादित करते हुए तुम दोनों (तत्) उस उस कर्म को (संसृजेथाम्) इकट्ठा मिला दो, (वाम्) तुम दोनों का (तत्) वह वह कर्म (सह) मिलकर (अस्तु) हो ॥ ६८ ॥

भावार्थः—पति और पत्नी ने मिलकर गृहस्थ-लोक का सम्पादन करना है। अतः इस गृहस्थ-लोक में उन में परस्पर कलह विद्वेष न होने चाहियें। इस लोक में जाया और पति मिलकर ही सब कामों को करें।

गृहस्थी, गृहस्थ के प्रत्येक व्यक्ति का सत्कार करे

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुपह्वये ॥
अथर्व० ६ । ५ । ३० ॥

(आत्मानं) अपने आप को, (पितरं) पिता को, (पुत्रं) पुत्र को, (पौत्रं) पोते को, (पितामहं) दादे को, (जायाम्) धर्मपत्नी को, (जनित्रीम्) जननदात्री जननी को, (मातरं) माता समान चाची, ताई आदि को, तथा (ये)

जो और भी (प्रियाः) प्यारे हैं (तान्) उन सब को (उपह्वये) मैं वाणी द्वारा सत्कृत करता हूं ॥ ६६ ॥

भावार्थः—(१)उपह्वये:—अपना, पिता का, पुत्र का, दादे का, धर्मपत्नी का, जन्मदात्री माता का, चाची ताई आदि जो मातृतुल्य हैं उन का, तथा सभी प्रियजनों का सत्कार करना प्रत्येक गृहस्थी का धर्म है।

मनुष्य-जाति में लोग प्रायः पिता, पितामह, जननी और अन्य वृद्ध जनों का ही सत्कार करते हैं, पर वे भी विरले ही। अपना, पुत्र का, पौत्र का, चाची आदि का और धर्मपत्नी का सत्कार वे भी प्रायः नहीं करते।

(२) आत्मानम्:—आत्माभिमान और आत्मावसादन दोनों ही बुरे हैं। गीता में लिखा है "नात्मानमवसादयेत्"। अर्थात् अपने आप को तुच्छ कभी मत जानो। उचित अवस्था का आत्मसन्मान सदैव अच्छा है। मैं अजर हूं, अमर हूं, शुद्ध हूं, दीन नहीं हूं, शक्तिशाली हूं, इन भावों के मनन से आत्म-सन्मान का सच्चा भाव जागृत हो सकता है।

(३) पुत्रम्:—इसी प्रकार पुत्र तथा पौत्र का सत्कार करना, उन्हें सभ्यता भरे शब्दों में पुकारना, सामाजिक और पारिवारिक जीवन में उनके साथ सभ्योचित रीति से वर्ताव करना सर्वदा लाभकर है।

(४) जायाम्ः—इसी प्रकार जाया का भी सत्कार अवश्य करना चाहिये। वेद में जाया को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है। वेद कभी शिक्षा नहीं देता कि स्त्री तुच्छ या नीच जाति है। वेद में कई स्त्रियों के नाम भी वैदिक ऋषियों की गणना में हैं, जो कि मन्त्रद्रष्टा हैं। वेद में धर्मपत्नी को कुलपा[1] (कुल की रक्षा करने वाली) और गृह-साम्राज्ञी[2] (घर की महारानी) के नामों से पुकारा है। पति को चाहिये कि वह जाया का भी सत्कार अवश्य किया करे। उसी तरह अन्य प्रिय सज्जनों का भी सत्कार करना चाहिये।

पितृभक्ति

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन्नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवः व्रततः कृणवो वपूंषि॥
अथर्व० ५।१।८॥

(पुत्रः) मैं पुत्र, (स्वस्तये) कल्याण के लिये (क्षत्रम्[3]) पीड़ितों के रक्षक, (ज्येष्ठम्) वृद्ध, (मर्यादम्) और

---

(१) अथर्व० १।१४।३॥ (२) अथर्व० १४।१।४३॥
(३) क्षत्+त्रैङ् पालने।

सात मर्यादाओं में रहने वाले (पितरम्) पिता की (ईडे) स्तुति और पूजा करता हूं; (अह्वयन्) तथा प्राचीन लोग भी इसी प्रकार पिताओं का यागादि द्वारा सत्कार करते आये हैं। (वरुण) हे श्रेष्ठ पितः ! (याः) जो (ते) तेरी (विष्ठाः) व्यवस्थाएं और मर्यादाएं हैं (ताः) उन्हें (दर्शन्) मुझे तथा अन्यों को दर्शाता हुआ तू (वि+आवः) उनका सम्यक् प्रकाश कर और (व्रततः) व्रतपूर्वक (वपूंषि) पुत्र-देहों को (कृणवः) पैदा कर ॥ ७० ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में पांच उपदेश दिये हैं:—

(१) पहिला यह कि पुत्र को कैसे पिता का सत्कार करना चाहिये। इस के लिये पितृविषय में निम्नलिखित गुण मन्त्र में दर्शाये हैं:—

(क) क्षत्र। जो दुःखितों, पीड़ितों और अनाथों का रक्षक अर्थात् पालक हो।

(ख) ज्येष्ठ। जो उम्र में पुत्र की आयु के मुकाबिले में काफी बड़ी आयुवाला हो। अभिप्राय यह कि नियमपूर्वक ब्रह्मचर्य की समाप्ति के बाद जो गृहस्थाश्रम में प्रवृत्त हो।

---

(१) व्रत+तसिल् ॥

(ग) मर्यादा। सब वैदिक मर्यादाओं के अनुकूल जो अपना जीवन व्यतीत करे। सब वैदिक मर्यादाओं के लिये इसी पुस्तक के पृ० ७५ से देखो।

(घ) वरुण। वह जो श्रेष्ठ कर्मों को करे।

(२) प्राचीन लोग भी ऐसे ही पिताओं का वाक् आदि द्वारा सत्कार करते आये हैं। अतः पितृसेवा शिष्टाचार है।

(३) पिताओं को चाहिये कि वे जिन मर्यादाओं के अनुसार अपना जीवन सार्थक करते आये हैं उन मर्यादाओं का उपदेश अपनी सन्तानों तथा अन्य लोगों के प्रति अवश्य करें। ताकि ये लोग भी उन के क्रियात्मक जीवन-पथ पर चल सकें।

(४) पिताओं को चाहिये कि वे गृहस्थ में गृहस्थ धर्म के व्रतों को न तोड़ें। अपितु गृहस्थ धर्मों के अनुसार व्रती होकर सन्तानोत्पत्ति करें।

(५) पितृसेवा से स्वस्ति अर्थात् कल्याण होता है।

माता पिता से शुभ शिक्षा के लिये प्रार्थना

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥
अथर्व० ६ । ६६ । २ ॥

(शुभस्पती) हे शुभ कर्मों के पालन करने वाले (अश्विना=अश्विनौ) मेरे माता पिता ! आप (सारघेण मधुना) मधुमक्खी के मधु के सदृश शिक्षा से (मा) मुझे (अङ्क्तम्) प्रकाशित करो। (यथा) जिससे (जनाँ अनु) मनुष्यों में मैं (भर्गस्वतीम्) तेजोमयी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) बोलूं ॥ ७१ ॥

भावार्थः—(१) मन्त्र में सम्भवतः "अश्विनौ" से माता पिता का ग्रहण है। पुत्र प्रार्थना करता है कि हे माता पिता ! आप मुझे ऐसी शिक्षा-मधु पिलाइये ताकि मैं मधुर बनकर मनुष्यों में मधुर ही वाणी बोलूं। मधुर वाणी में बड़ा बल होता है। इसमें एक विशेष प्रकार का तेज होता है जिससे शत्रु भी वश में हो जाता है। अत एव इस मधुर वाणी को मन्त्र में भर्गस्वती कहा है।

---

(१) सरघा=मधुमक्खी ॥ (२) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु ॥

(२) मन्त्र में अश्वियों अर्थात् माता पिता के लिये भी एक उपदेश दिया है और वह शुभस्पती इस विशेषण द्वारा। अर्थात् माता पिता को शुभ कर्मों का आचरण और शुभ कर्मों की रक्षा सदैव करनी चाहिये। उन्हें स्वयं भी सदाचारी होना चाहिये तभी उन के पुत्र भी सदाचारी हो सकेंगे।

माता पिता से शुभ शिक्षा के लिये प्रार्थना

उदायुरुद्बलमुत्कृतमुत्कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतं मा।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम्॥ अथर्व० ५। ६। ८॥

हे माता पिताओ! (मे) मेरी (आयुः) आयु को (उत्) उत्तम, (बलम्) बल को (उत्) उत्कृष्ट, (कृतम्) कृत कर्मों को (उत्) उत्तम, (कृत्याम्) जो कर्म आगे करने हैं उन को (उत्) उत्तम, (मनीषाम्) बुद्धि को (उत्) उत्तम, तथा (इन्द्रियम्) इन्द्रियों को (उत्) उत्तम करो। (आयुष्कृत्) आयु का करने वाला अर्थात् मुझे जीवन देने वाला मेरा पिता और (आयुष्पत्नी) आयु अर्थात् जीवन की रक्षा करने वाली मेरी माता, ये दोनों (स्वधावन्तौ) प्रभूत

(१) स्वधा=अन्न, निघं० २। ७॥

अन्न अर्थात् जीवनसामग्री वाले होकर (मे) मेरे (गोपाः= गोपौ) रक्षक (त्वम्) होवें, (मा) मेरी (गोपायतम्) रक्षा करें। (मे) मेरे (आत्मसदौ) आत्मा में निवास करने वाले हों, (मा) मेरी (मा) न (हिंसिष्टम्) हिंसा करें॥ ७२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में सन्तति के प्रति माता पिता के कर्तव्यों को दर्शाया है। माता पिता का कर्तव्य है कि वे अपनी सन्तति की—

(१) आयु को उत्कृष्ट करें।

(२) उन्हें व्रती बनाएं।

(३) उत्तम कर्मों के करने वाले बनाएं।

(४) उत्तम बुद्धि वाले बनाएं।

(५) इन्द्रियसंयमी बनाएं।

(६) माता पिता के पास जीवनसामग्री पुष्कल हो ताकि उन की सन्तति की रक्षा हो सके।

(७) माता पिता को चाहिये कि वे अपनी सन्तति की आत्मिक उन्नति पर बहुत ध्यान दें। माता पिता बच्चों की आत्मिक उन्नति के लिये इतने सावधान तथा कठोर हों कि

---

(१) गुप् रक्षणे॥

बच्चा जब कभी अपने आत्मा में बुरे विचारों तथा भावों का ख्याल भी करने लगे तो माता पिता की भावनामयी मूर्तियां बच्चे के सन्मुख आ कर खड़ी हो जायं, मानो कि उन का निवास उस की आत्मा में पूर्व से ही विद्यमान था। इसी भाव के दर्शाने के लिये मन्त्र में 'आत्मसदौ' पद रक्खा गया है।

(८) माता पिता बच्चे की आत्मिक उन्नति से पराङ्मुख हो कर कहीं बच्चे का घात न कर बैठें, आत्मिक उन्नति के न होने का ही नाम 'आत्मघात' है। "तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" । यजु० अ० ४० । मं० ३ ॥ यजुर्वेद के इस मन्त्र में भी आत्मघात का यही अभिप्राय है। माता पिता को समझना चाहिये कि बच्चे की आत्मा का यदि विकास नहीं हुआ, यदि शरीर तथा मन की अच्छी उन्नति के होने पर भी बच्चे की आत्मिक उन्नति नहीं हुई तो बच्चा मृतवत् ही है। मरे और उस जीते में कोई अन्तर नहीं। अतः माता पिता को बच्चे की आत्मिक उन्नति के लिये भरसक प्रयत्न करना चाहिये। मन्त्र में पढ़े "मा हिंसिष्टम्" शब्दों का यही अभिप्राय है।

(९) इसी प्रकार बच्चा भी जब बड़ा हो जाय, और अपने लाभालाभ का उसे परिज्ञान हो जाय तो वह भी अपनी आयु, बल, कर्त्तव्यकर्म, बुद्धिशक्ति और इन्द्रियसंयम की

वृद्धि, तथा आत्मिक उन्नति में सावधान और दृढ़प्रतिज्ञ हो। तथा वह पूर्णरूप से निश्चय करले कि आत्मिक उन्नति के विना वह मरे हुए के तुल्य है। एतदर्थ वह माता पिता, शिष्ट तथा गुरुजनों की सहायता के लिये, उन से अनुनय, विनय तथा प्रार्थना करता रहे।

पुत्रों को चाहिये कि शुभगुणों में वे अपने माता पितात्रों से श्रेष्ठ बनें

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः।
अस्माँस्ते अनु वयं तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म॥
अथर्व० १८। ४। ८७॥

(ये) जो (इह) यहां अर्थात् इस गृहस्थाश्रम में (जीवाः) जीवित (पितरः) पितर अर्थात् माता पिता हैं (ते) वे (अस्मान्) हमारे (अनु) पीछे रहें [गुणों में], और जो (इह) यहां (वयम्) हम [उन के पुत्र] (स्मः) हैं, (ते) वे (वयम्) हम (तेषाम्) उन में (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्म) हो जावें॥ ७३॥

भावार्थः—(१) प्रत्येक पुत्र की यह अभिलाषा तथा दृढ़ इच्छा होनी चाहिये कि वह सद्गुणों और शुभकर्मों में

अपने माता पिता से अधिक श्रेष्ठ बने। यत्न यह होना चाहिये कि अपने माता पिता के जीवनकाल में ही पुत्र उन से श्रेष्ठ बन जावें। मन्त्र में "जीवाः" पद के प्रयोग का यही अभिप्राय है।

(२) श्रेष्ठ बनने के लिये यह आवश्यक है कि जो श्रेष्ठ बनना चाहता है उस के चित्त में श्रेष्ठ बनने की उत्कट इच्छा हो। यह इच्छा ही सदाचार का मूल है।

(३) यह भी ध्यान देना चाहिये कि मन्त्र में "वयं स्मः" "श्रेष्ठाः भूयास्म" आदि स्थलों में बहुवचन दिया है। जिस से यह भी अभिप्राय सूचित होता है कि पुत्र मिलकर अपनी श्रेष्ठता के लिये यत्न करें। अर्थात् ऐसे पुत्र-संघ या पुत्रसभाएं अथवा कुमारसभाएं होनी चाहियें जिन में कि पुत्र इकट्ठे होकर अपनी श्रेष्ठता के साधनों का अभ्यास किया करें। यदि पुत्र यह इच्छा करें कि हमने अपने माता पिता की अपेक्षा गुणों में श्रेष्ठ बनना है और पौत्रादि भी इसी प्रकार इच्छाएं करते जायं तो संसार में श्रेष्ठता का शीघ्र प्रसार हो सकता है।

सातवां प्रकरण

दान-भाव

अन्नदान तथा यज्ञ द्वारा दान

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूपम् ॥
अथर्व० ६ । १२३ । ४ ॥

(सः) वह (पचामि) मैं पकाता हूं, (सः) वह (ददामि) मैं दान देता हूं, (सः) वह मैं (यजे) यज्ञ करता हूं, (सः) वह मैं (दत्तात्[1]) दान देने से (मा) न (यूषम्[2]) पृथक् होऊं ॥ ७४ ॥

भावार्थः—(१) पचामिः—अन्नदान की यही महिमा है कि स्वयं पकाकर अन्नदान किया जाय। यही अन्नदान श्रद्धा का सूचक है। "श्रद्धया देयम्" का भी यही आशय है। दान कितना दिया, इस से दाता के चित्त की शुद्धि नहीं होती

(१) दद् दाने + क्त [भावे]। (२) यु मिश्रणामिश्रणयोः।

अपितु दान कितनी श्रद्धा से दिया, इसी से दाता के चित्त की शुद्धि होती है।

(२) यजेः—यज्ञ करना भी दान ही है। वस्तुतः यह महादान है। इस से एक दम बहुतों का उपकार होता है।

(३) यूयम्ः—वैदिक समाज के प्रत्येक व्यक्ति के मुख से ये शब्द निकलने चाहियें कि "मैं दान-कर्म से पृथक् न होऊं"।

शिक्षादान तथा धनदान

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।
यदहं गोपतिः स्याम् ॥ अथर्व० २० । २७ । २ ॥

(शचीपते) हे शक्ति के पति प्रभो ! मुझे शक्ति दो कि (यद्) यदि (अहम्) मैं (गोपतिः) विद्यावान् या धनवान् (स्याम्) होऊं, तो (अस्मै) इस (मनीषिणे) बुद्धि-

(१) शची=कर्म, निघं० २ । १ ॥

(२) गो=वाणी, निघं० १।११ तथा गो=पृथिवी, निघं० १।१॥

(३) मनीषी=मनीषा (बुद्धि और संयम)+इनिः ।

मान् और संयमी विद्यार्थी के लिये (शिक्षेयम्) शिक्षादान करूं और (दित्सेयम्) धनदान करूं ॥ ७५ ॥

भावार्थः (१) गो का अर्थ वेदवाणी भी होता है। अतः गोपति का अर्थ वेदविद्या का पति या वाणियों का पति अर्थात् विद्यावान् ऐसा हो सकता है। गो का अर्थ गौ भी है। इस अर्थ के होते हुए गो शब्द अन्य धनों का भी उपलक्षक है। अतः गोपति का अर्थ धनपति या धनवान् ऐसा भी संभव है।

(२) शिक्षित के लिये आवश्यक है कि वह अन्यों को भी शिक्षित करे। तथा धनी के लिये आवश्यक है कि वह अन्यों को भी धन दान करे। यदि मनुष्य शिक्षित और धनी दोनों है तो वह शिक्षा और धन दोनों का दान करे।

(३) तथा इस दानवृत्ति को स्थिर रखने के लिये वह शक्तिशाली परमात्मा से शक्ति की प्रार्थना करे।

(४) शिक्षादान और धनदान के पात्र वे ही जन हो सकते हैं जो बुद्धिमान् तथा संयमी हों।

---

(१) दित्सेयम्=दा+सन्+लिङ् लकार।

गृहस्थियों की संसार भर के लिये पुत्रबुद्धि

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया।
कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥
अथर्व० १२।३।४७॥

(अहम्) मैं (पचामि) पकाता हूं, (अहम्) मैं (ददामि) दान करता हूं, (मम) मेरी (जाया) पत्नी (इत्) भी (उ) अवश्य (करुणे) करुणामय (कर्मन्) कर्म में (अधि) अधिष्ठित हो। (लोकः) संसार (कौमारः पुत्रः) कुमार पुत्र के सदृश (अजनिष्ट) हुआ है, (अनु) इस के अनुकूल (उत्तरावत्) उत्कृष्ट (वयः) जीवन (आरभेथाम्) तुम दोनों आरम्भ करो ॥ ७६ ॥

भावार्थः—पति कहता है कि—

(१) मैं अन्न स्वयं पकाकर उस का दान करता हूं। अन्न को स्वयं पकाना और फिर उस का दान करना इस में अधिक श्रद्धा सूचित होती है।

(२) तथा मेरी धर्मपत्नी भी इसी प्रकार करुणायुक्त कर्मों में लगी रहे। पति और पत्नी जब दोनों ही करुणा-मूर्त्ति हों तो गृहस्थ वास्तव में स्वर्गधाम है।

---

(१) कुमार एव कौमारः, अथवा कुमारसदृशः

(३) पति और पत्नी दोनों कहते हैं कि सम्पूर्ण जगत् हमारे लिये कुमार-पुत्र की न्याईं हो चुका है। छोटे पुत्र को कुमार पुत्र कहते हैं जो कि अभी तक अपनी रक्षा आप नहीं कर सकता। पुत्र पर माता पिता का स्नेह और अनुराग कितना होता है, और विशेषतया जब कि वह पुत्र अभी कुमारावस्था में हो। वस्तुतः जिस दम्पती ने सारे संसार को अपने कुमार पुत्र की तरह जान लिया है, और इसी भावना से उस कुमार पुत्र की रक्षा या रक्षा की चाहना भी की है, उसके विशाल हृदय की हम कल्पना भी नहीं कर सकते।

वेद उपदेश देता है कि हे दम्पति! सम्पूर्ण संसार को अपना कुमार पुत्र मानना। ऐसे सिद्धान्तों के अनुकूल ही अपना जीवन बनाओ। यही उत्कृष्ट जीवन है। गृहस्थी का इस प्रकार का उपकारभाव सर्वश्रेष्ठ है। ऊपर के वर्णन से पाठक अनुभव कर सकते हैं कि वैदिक गृहस्थ का क्षेत्र कितना महान् और विशाल है। वैदिक गृहस्थधर्म के अनुसार, सारा संसार ही, गृहस्थों का कुमार-पुत्र है। यदि ऐसे गृहस्थी हों तो संसार के दुःख संकट आज ही नष्ट भ्रष्ट हो जावें।

आठवां प्रकरण

अतिथियज्ञ

अतिथि के सत्कार के लिये अभ्युत्थान

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयात् । व्रात्य क्वावात्सी, र्व्रात्योदकं, व्रात्य तर्पयन्तु, व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु, व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु, व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ अथर्व० १५ । ११ । १, २ ।

(तद्) इसलिये (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) विद्या वाला तथा (व्रात्यः) व्रतनिष्ठ (अतिथिः) अतिथि (यस्य) जिस के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आवे ॥ तो गृहस्थी (स्वयम्) अपने आप (एनम्) इसकी (अभ्युदेत्य)

---

(१) व्रतानां समूहः व्रातः, तत्र साधुः व्रात्यः ॥

(२) उत्=उठ कर । अभि=सन्मुख । एत्य=जाकर ।

अगुवाई करके (इति) इस प्रकार (ब्रूयात्) बोले । (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (क) कहां (अवात्सीः) आपका निवास था, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (उदकम्) यह जल है, लीजिये, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ !(तर्पयन्तु)ये पदार्थ आप को तृप्त करें, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (यथा) जैसी (ते) आप की (प्रियम्) अभिलाषा है (तथा) वैसे (अस्तु) किया जाय, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (यथा) जैसी (ते) आपकी (वशः) इच्छा है (तथा) वैसे (अस्तु) किया जाय, (व्रात्य) हे व्रतनिष्ठ ! (यथा) जैसे (ते) आपकी कामना है (तथा) वैसे (अस्तु) किया जाय ॥ ७७ ॥

भावार्थः—(१) जब विद्वान् और व्रती अतिथि घरों में आवे तब गृहस्थी को स्वयं इस की अगुवाई करनी चाहिये। नौकरों के ऊपर अतिथिसेवा का भार न डालना चाहिये अगुवाई के पश्चात् वह—

(२) अतिथि से कुशल-प्रश्न पूछे ।

(३) उसे हाथ पैर धोने के लिये जल दे ।

(४) और कहे कि घर के ये सब पदार्थ आप के ही लिये हैं ।

---

(१) वश कान्तौ, कान्तिरिच्छा ॥

(५) और जिस प्रकार अतिथि की इच्छा हो, उसी प्रकार उसका अन्नादि द्वारा सत्कार करे ।

मूर्ख अतिथि की सेवा नौकरों द्वारा कराओ

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परिवेवेष्मीत्येनं परिवेविष्यात् ॥ अथर्व० १५ । १३ । ६–६ ॥

(अथ) अब (अव्रात्यः) जो व्रतनिष्ठ वो नहीं (व्रात्यब्रुवः) परन्तु अपने आप को व्रात्य कहता है, (नाम बिभ्रती) ऐसा व्रात्यनामधारी (अतिथिः) अतिथि (यस्य) जिसके (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आवे ॥ (एनम्) इस अतिथि को (कर्षेत्) क्या गृहस्थी कष्ट देवे ?, (एनम्) इस अतिथि को (नच) न (कर्षेत्) कष्ट देवे ॥ (अस्यै) इस (देवतायै) देवता के लिये (उदकम्) जल (याचामि) मांगता हूं, (इमाम्) इस (देवताम्) देवता को (वासय) निवासस्थान दो, (इमामिमां) इस इस अर्थात् ऐसी प्रत्येक (देवताम्) देवता की (परिवेवेष्मि) निरन्तर अन्न द्वारा सेवा करता हूं, (इति) इस प्रकार कहकर (एनम्) इस अतिथि को (परिवेविष्यात्) अन्न परसवावे ॥ ७८ ॥

भावार्थः—यदि कोई अविद्वान् और अव्रती अतिथि घर में आजाय, तो उसके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिये ?। मन्त्र में कहा है कि उसे गृहस्थी कष्ट न पहुंचावे। परन्तु ऐसे अतिथि की स्वयं अगुवाई न करे। नौकरों को कहे कि इस अतिथि-देव को जल दो, इसे निवासस्थान दो, ऐसे प्रत्येक अतिथि को अन्न दो। अभिप्राय यह कि ऐसे अतिथि के भी वास, पालन तथा पोषण के लिये प्रबन्ध करना गृहस्थी का धर्म है। हां, ऐसे अतिथि की स्वयं अगुवाई आदि करके उसे इज्जत न देनी चाहिये। ऐसे अतिथि में भी अतिथि-देव की बुद्धि कर केवलमात्र उसके भोजनाच्छादन का प्रबन्ध नौकरों द्वारा करा देना चाहिये।
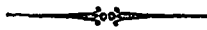
किस अवस्था में और कैसे गृहस्थ का अन्न अतिथि न खावे

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्। न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य॥ अथर्व० का० ९। अनु० ३ सू० ३। मं० ७॥

(यः) जो (एवम्) इस प्रकार (विद्वान्) विद्वान् अतिथि है, (सः) वह (द्विषन्) अन्नदाता गृहस्थी के साथ द्वेष करता

हुआ (अन्नम्) उस के अन्न को (न) न (अश्नीयात्) खावे, (न) और न (द्विषतः) द्वेष करने वाले गृहस्थी के अन्न को (अश्नीयात्) खावे। (न) न उस गृहस्थी का अन्न खावे-(मीमांसितस्य) "अतिथियों की सेवा नहीं करनी चाहिये" इस प्रकार की मीमांसा अर्थात् निर्णय जिस ने कर लिया है, और (न) न (मीमांसमानस्य) इस प्रकार का निर्णय जो अभी कर रहा है उस का ही अन्न खावे। अर्थात् जो गृहस्थी अतिथिसेवाकर्म में शङ्का वाला हो गया है उसका भी अन्न न खावे ॥ ७९ ॥

भावार्थः—विद्वान् अतिथियों को चाहिये कि वे—

(१) जिन का अन्न खावें, उन के साथ द्वेष न करें।

(२) न द्वेष बुद्धि वाले गृहस्थी का अन्न खावें।

(३) न उस का भी अन्न खावें जिस की अतिथि-यज्ञ पर श्रद्धा नहीं रही।

(४) और उस का अन्न भी न खावें जो अतिथियज्ञ के सम्बन्ध में संशयवृत्ति वाला है।

---

(१) मीमांसित=मीमांसा+इट्+क्त। मीमांसा=मान् (पूजायाम्)+सन् (आशङ्कायाम्)+आ। अर्थात् जो अतिथियज्ञपरकश्रद्धा में साशंक हो चुका है।

अतिथि देव-यजन है

यद्वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥
अथर्व० ६ । ३ । २ । ३ ॥

(अतिथिपतिः[1]) अतिथियों का पालन करनेहारा गृहस्थ (यद) जो (अतिथीन्) अतिथियों के (प्रतिपश्यति) दर्शन कर लेता है (देवयजनम्[2]) वह मानो यज्ञशाला अथवा शरीरधारी दिव्य गुणों का (प्रेक्षते) दर्शन करता है ॥ ८० ॥

भावार्थः—अभिप्राय यह है कि अतिथियों का दर्शनमात्र भी लाभकारी है तो फिर उन का पूजन और सत्कार तो अवश्य ही श्रेयस्कर होना चाहिये ।

अतिथि लोग स्वर्ग के द्वार हैं

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ अथर्व० ६ । ३ । ३ । ६ ॥

---

(१) पति=पा रक्षणे ।

(२) देवयजन=दिव्य गुणों की संगति अर्थात् समूह, अथवा देवों के यजन का स्थान ।

(यद्) जो (अतिथयः) अतिथि हैं, (एते) ये (वै) निश्चय कर के (ऋत्विजः) हर ऋतु अर्थात् हर समय में उत्तम कर्म करने और कराने वाले हैं, (प्रियाः) चाहे ये प्रिय लगें (च) और (अप्रियाः) चाहे अप्रिय, परन्तु ये (लोकम्) गृहस्थ लोक को (स्वर्गम्) स्वर्ग तक (गमयन्ति) पहुंचा देते हैं। अर्थात् गृहस्थ लोक को स्वर्गमय बना देते हैं ॥८१॥

भावार्थः—अतिथि लोग उत्तम कर्म करने और कराने वाले हैं। ये जिस घर में जाते हैं उस घर के लोगों को देवपूजा, सत्सङ्ग तथा दान आदि उत्तम २ कर्म सिखाते हैं। ऋत्विक् शब्द में यज् धातु है, जिस के अर्थ देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान हैं। अतिथियों का घर में आना प्रिय लगे या अप्रिय, गृहस्थी को उन की सेवा अवश्य करनी चाहिये। क्योंकि निश्चय से ये उत्तम कर्मों का उपदेश देने वाले हैं, और अपने उपदेशों द्वारा गृहस्थ लोक को स्वर्गीय रूप देते हैं। अर्थात् उसे स्वर्गधाम बना देते हैं।

अतिथियों द्वारा गृहस्थों के पाप नष्ट होते हैं

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥

अथर्व० ६। ३। २। ८॥

(वै) निश्चय से (एषः) यह (सर्वः) सब गृहस्थ (जग्धपाप्मा) नष्टपाप हो जाता है, (यस्य) जिस गृहस्थ के (अन्नम्) अन्न को (अश्नन्ति) अतिथि खाते हैं ॥८२॥

भावार्थः—जिस गृहस्थ के अन्न को अतिथि खाते हैं, उस गृहस्थ के सब पाप नष्ट हो जाते हैं। अतिथियों के सदुपदेशों द्वारा वह सत्पथगामी बन जाता है। जिस से वह पापों से छुटकारा पा जाता है।

अतिथि, जिस गृहस्थ का अन्न नहीं खाते वह गृहस्थ पापी रहता है

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥
अथर्व० ९ । ३ । ३ । ९ ॥

(वै) निश्चय से (एषः) यह (सर्वः) सब गृहस्थ (अजग्धपाप्मा) पाप से युक्त रहता है, (यस्य) जिस के (अन्नम्) अन्न को अतिथि (न) नहीं (अश्नन्ति) खाते ॥८३॥

भावार्थः—जो अतिथियों के द्वेषी हैं, जिन की अतिथियों में श्रद्धा नहीं, उन के घर अतिथि नहीं आते। अतएव वे गृहस्थ उन के सदुपदेशों से वञ्चित रहकर पापों से

मुक्त भी नहीं हो सकते। अतिथि किस गृहस्थ का अन्न नहीं खाते इस के लिये पृष्ठ १७७ देखो। गृहस्थी का अन्न न खाने में वहां तीन शर्तें दी हैं।

(१) न द्विषतोऽन्नमश्नीयात्। (२) न मीमांसितस्य। (३) न मीमांसमानस्य।

अतिथि को अन्न देना प्राजापत्य-यज्ञ है

प्राजापत्यो वा एतस्य यज्ञो विततो य उपहरति ॥
अथर्व० ९। ३। ३। ११॥

(वै) निश्चय से, (एतस्य) इस गृहस्थी का (प्राजापत्यः) गृहस्थरूपी (यज्ञः) यज्ञ (विततः) विस्तार को प्राप्त होता है, (यः) जो गृहस्थी (उपहरति) अतिथि को अन्न का उपहार अर्थात् भेंट देता है ॥ ८४ ॥

---

(१) प्राजापत्यः=प्रजापतिसम्बन्धी। घर के स्वामी का नाम प्रजापति है। वह प्रजा अर्थात् सन्तानों, घर के पशुओं, तथा घर के अन्य प्राणियों की पालना करता है। अतः प्राजापत्य-यज्ञ का अभिप्राय गृहस्थ-यज्ञ है।

भावार्थः—जो गृहस्थी, अतिथियों का सत्कार करता है उस का सब घर उन के उपदेशों से तर जाता है। उस के गृहस्थ का अधिक २ विस्तार होने लगता है। उस के गृहस्थ के सभी सभासद् उन्नति को प्राप्त होने लगते हैं, और असमय नाश को प्राप्त नहीं होते।

अतिथि के पूर्व गृहस्थ को भोजन न करना चाहिये

इष्टं च वा एष पूर्तं च गृहाणामश्नाति।
यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ अथर्व० ९। ३। ४। १ ॥

(एषः) यह गृहस्थ, (वै) निश्चय से, (गृहाणाम्) गृहवासियों के (इष्टम्) किये हुए देवपूजन, सत्सङ्ग, दान (च) और (पूर्तम्) परोपकार के अन्य कर्मों को (अश्नाति) भक्षण करता अर्थात् नष्ट करता है, (यः) जो कि (अतिथेः) अतिथि से (पूर्वः) पहिले (अश्नाति) भोजन करता है ॥ ८५ ॥

भावार्थः—घर में अतिथि के आये हुए भी जो गृहस्थ अतिथि को भोजन कराये विना उससे पूर्व ही भोजन कर चुकता है, उस की अतिथि में श्रद्धा नहीं यह तो स्पष्ट ही है।

ऐसी अवस्था में वह गृहस्थ अतिथि के प्रेममय सदुपदेशों से अवश्य ही वञ्चित रहेगा। यतः ऐसा गृहस्थ सदुपदेश का पात्र नहीं। सदुपदेश के अभाव में वह गृहस्थ सत्कर्मों से अवश्य पराङ्मुख हो जायगा, और किये हुए सत्कर्म भी उस के निष्फलवत् हो जायंगे। जब गृहस्थ सदुपदेशों से वञ्चित रहा और सत्कर्मों से पराङ्मुख हुआ तब उस की सन्तान पर भी उस का बुरा प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। इस प्रकार सारे गृह ही की सत्कर्मों से पराङ्मुखता सम्भावित हो जाती है।

अतिथि के पूर्व गृहस्थ को भोजन न करना चाहिये

कीर्तिं च वा एष यशश्च गृहाणामश्नाति।
यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति॥ अथर्व० ९।३।४।५॥

(एषः) यह गृहस्थ, (वै) निश्चय से, (गृहाणाम्) गृह-वासियों की (कीर्त्तिम्) कीर्त्ति (च) और (यशः) यश को (अश्नाति) खाता अर्थात् नष्ट करता है. (यः) जो कि (अतिथेः) अतिथि से (पूर्वः) पहिले (अश्नाति) भोजन करता है॥ ८६॥

भावार्थः—अतिथि-यज्ञ के करने वालों के मन में, उस गृहस्थ के लिये, अप्रतिष्ठा और घृणा का भाव पैदा हो जाता है, जिसे अतिथियों में श्रद्धा नहीं। इस प्रकार उस के सब घर की निन्दा लोक में फैल जाती है और उन की पूर्व की कीर्ति तथा यश भी स्वाहा हो जाते हैं।

अतिथि के पूर्व गृहस्थ को भोजन न करना चाहिये

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति।
यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ अथर्व० ६। ३। ४। ६॥

(एषः) यह गृहस्थ, (वै) निश्चय से, (गृहांणाम्) गृहवासियों की (श्रियम्) शोभा सम्पत्ति (च) और (संविदम्) सहानुभूति शक्ति तथा उत्तम बुद्धि को (अश्नाति) खाता है अर्थात् नष्ट करता है, (यः) जो (अतिथेः) अतिथि से (पूर्वः) पहिले (अश्नाति) भोजन करता है ॥८७॥

भावार्थः—(१) गृहस्थी यदि अतिथि का उचित सत्कार नहीं करता, तो वह अपनी वैयक्तिक सहानुभूति की शक्ति को तो नष्ट करता ही है, साथ ही वह अपने गृहवासियों की भी, सहानुभूति की उस शक्ति को नष्ट कर देता है।

क्योंकि शेष गृहवासियों में भी गृहपति के सदृश दोष आ जाते हैं।

(२) इसी प्रकार इन की बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। अतिथि-यज्ञ आदि उत्तम कर्मों का करना उत्तम बुद्धि वाले का ही काम है। जब इन में इस की श्रद्धा न रही, तो उस की उत्तम बुद्धि भी मारी गई समझनी चाहिये। तथा यह भी जानना चाहिये कि अतिथि भी उत्तम बुद्धि की प्राप्ति के साधन हैं। अतिथियों के सदुपदेश से गृहस्थियों में उत्तम बुद्धि पैदा होती है। जो लोग अतिथियों का सत्कार नहीं करते वे उन के सदुपदेशों से वञ्चित रहते हैं और अतएव उत्तम बुद्धि से भी वञ्चित रहते हैं।
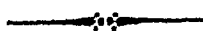
श्रोत्रिय अतिथि के पूर्व गृहस्थ भोजन न करे

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात्पूर्वो नाश्नीयात्।

अथर्व० ९। ३। ४। ७॥

(एषः) यह (वै) निश्चय से, (अतिथिः) अतिथि है, (यत्) जो कि (श्रोत्रियः) वेदज्ञ है, (तस्मात्) उस

(१) श्रोत्रियः=छन्द अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाला। वेदों में श्रोत्रपद वेद के अर्थ में भी आता है। इसी प्रकार

अतिथि से (पूर्वः) पहिले (न) न (अश्नीयात्) भोजन करे ॥ ८८ ॥

भावार्थः—वास्तव में वही अतिथि है जो वेदज्ञ है। उस से पूर्व कभी भोजन न करना चाहिये।
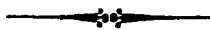
श्रोत्रिय अतिथि के पूर्व भोजन न करने का व्रत धारण करे।

अशितावत्यातिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय।
यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम्॥

अथर्व० ६। ३। ४। ८॥

(अतिथौ) अतिथि के (अशितावति) भोजन कर चुकने पर ही (अश्नीयात्) गृहस्थ भोजन करे। (यज्ञस्य) इस अतिथि-यज्ञ को (सात्मत्वाय) जीवित बनाने के लिये

श्रुत, श्रुति पद भी वेद के अर्थ में आते हैं। अतः श्रोत्रिय= श्रोत्रवाला=वेदवाला=वेदज्ञ।

(१) यज्ञस्य सात्मत्वाय=यज्ञ को सात्म अर्थात् आत्मा-सहित बनाने के लिये। आत्मासहित शरीर जीवित है और आत्मारहित मृत। अतः सात्मत्वाय का अर्थ हुआ—जीवित बनानें के लिये।

तथा (अविच्छेदाय) इस की निरन्तर स्थिति के लिये (तद्) वह (व्रतम्) व्रत है ॥ ८९ ॥

भावार्थः—मंत्र में "अतिथि" और "यज्ञ" दोनों पद आये हैं। इन को साथ २ लिखें तो "अतिथियज्ञ" यह समस्त पद बनेगा। वेद में अतिथि सेवा को भी यज्ञ के नाम से कहा है। सम्भवतः इसी मंत्र को देख कर मनु महाराज ने भी अतिथि यज्ञ को पञ्चमहायज्ञों में शामिल किया हो। मंत्र में लिखा है कि अतिथि के भोजन कर चुकने पर गृहस्थ भोजन करे, और इसे अपना व्रत समझे। ताकि ऐसा न हो कि गृहस्थ कहीं इस से विपरीतकारी हो जाय। विना व्रत लिये किसी भी सत्कर्म का जीवित रहना और उस का निरन्तर पालन करना असम्भव है।

अतिथि को अन्न देने वाला गृहस्थ प्रजापति पदवी को पाता है

प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति ॥

अथर्व० ९ । ३ । ३ । १२

(वै) निश्चय करके, (एषः) वह गृहस्थी, (प्रजापतेः) सब प्रजाओं के रक्षक परमात्मा का (विक्रमाननुविक्रमते)

(*) क्रमु पादविक्षेपे । अतः विक्रम=पादविक्षेप ।

पदानुगामी होता है (यः) जो (उपहरति) अतिथि को अन्न का उपहार देता है ॥ ९० ॥

भावार्थः—प्रजा का अर्थ है—अन्यपदार्थ । अन्न के प्रकरण होने से यहां प्रजा का अर्थ हम प्राणी ले सकते हैं। परमात्मा इन सब प्राणियों का अन्न द्वारा पालन पोषण करता है । अतः वह परमात्मा ही मुख्य प्रजापति है । जो सद्‌गृहस्थ अन्न द्वारा आगन्तुकों तथा अतिथियों का पालन करता है वह परमात्मा का पदानुगामी बन जाता है । अर्थात् वह भी छोटे रूप में प्रजापति होजाता है ।

अतः अनुविक्रमते=पीछे २ पाद विक्षेप करना अर्थात् चलना या अनुगामी होना ।

नवमा प्रकरण

राष्ट्रीय-जीवन

—:o:—

पृथिवी के धारक गुण

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ॥
अथर्व० १२ । १ । १ ॥

(बृहत्सत्यम्) बृहत् सत्य, (उग्रमृतम्) दृढ़ राजकीय नियम, (दीक्षा) नियम और व्रतप्रधानजीवन, (तपः) तप, (ब्रह्म) वैदिक स्वाध्याय, ब्राह्मणों का सत्सङ्ग तथा ब्रह्म-भक्ति अर्थात् आस्तिकता, (यज्ञः) देवों की पूजा, सत्सङ्ग, दान तथा अग्निहोत्रादि, (पृथिवीम्) पृथिवी का (धारयन्ति) धारण करते हैं ॥ ८१ ॥

भावार्थः—(१) बृहत्:-पृथिवी पर यदि थोड़े से जन तो सत्य बोलने तथा सत्य करने वाले हैं और शेष जन वैसे नहीं, तो इस से पृथिवी का धारण सम्भव नहीं। इसी

प्रकार यदि पृथिवी पर एक आध राष्ट्र तो सत्य का अनुष्ठान करने वाला है और शेष राष्ट्र वैसे नहीं तो इस से भी पृथिवी का धारण नहीं हो सकता। अतः पृथिवी के धारण के लिये "बृहत्सत्य" बड़े सत्य अर्थात् व्यापक सत्य की आवश्यकता है। सम्पूर्ण पृथिवी का धारण तो तभी सम्भव है जब कि पृथिवी के सम्पूर्ण जन और राष्ट्र सत्य के पक्षपाती हों। नहीं तो पृथिवी के धन, जन तथा राष्ट्रों की रक्षा तथा उन्नति असम्भव है।

(२) उग्रम्ः—यदि राष्ट्रों के नियम ढीले हैं, प्रजा पर दण्ड का कोई भय नहीं, तब भी पृथिवी का धारण असम्भव है।

(३) दीक्षाः—परन्तु राजकीय नियम तो प्रजा की बाह्य प्रवृत्तियों को नियमित कर सकते हैं। उन के आन्तरिक जीवनों को ये राजकीय नियम शासित नहीं कर सकते। आन्तरिक जीवनों के शासन के लिये तो मनुष्यों को अपनी ही सद्बुद्धि तथा दृढ़ इच्छा-शक्ति चाहिये। इसीलिये दीक्षा का भी वर्णन है।

(४) तपः—दीक्षा का जीवन तप के विना सम्भव नहीं।

(५) ब्रह्मः—और तप की ओर रुचि का होना विना

उत्तम स्वाध्याय, सत्सङ्ग तथा परमात्मा पर भरोसे के असम्भव है।

(६) यज्ञः—इसी प्रकार दान देना, विद्वानों तथा सज्जनों का सत्कार और अग्निहोत्रादि द्वारा जल, वायु तथा ओषधि की शुद्धि करना, ये गुण भी पृथिवी का धारण करते हैं।

राष्ट्रभाव की उन्नति, उसके उद्देश्य और उपाय

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदीक्षामुप निषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसंनमन्तु॥
अथर्व० १९।४१।१॥

(भद्रम्) सुख और कल्याण को (इच्छन्तः) चाहते हुए (स्वर्विदः) स्वर्गीय जीवन वाले (ऋषयः) ऋषियों ने (अग्रे) पहिले (तपः) तप और (दीक्षां) दीक्षा की (उपनिषेदुः) शरण ली। (ततः) उस के बाद (राष्ट्रम्) राष्ट्र, (बलं) राष्ट्रीय बल, (च) और (ओजः) राष्ट्रीय ओज (जातम्) पैदा हुए। (तत्) इसलिये (देवाः) हे देव लोगो! (अस्मै) इस राष्ट्रभाव, राष्ट्रीय बल और राष्ट्रीय ओज को (उप) प्राप्त करो और (संनमन्तु) एक होकर इसे नमस्कार करो॥ ९२॥

भावार्थः—यह मन्त्र राष्ट्रीय भावों का वर्णन करता है। राष्ट्र के मूल सिद्धान्त इस मन्त्र में पाये जाते हैं। वे निम्न-लिखित हैं:—

(१) ततो राष्ट्रम्:—आरम्भ में राष्ट्र का भाव नहीं था। राष्ट्रभाव की उत्पत्ति पीछे से हुई। आरम्भ में राष्ट्रभाव नहीं था, इस कथन के दो अभिप्राय हो सकते हैं:—

क—आरम्भ में मनुष्य अपने अपने कर्तव्य को समझते थे। अतः वे अनधिकार चर्चा नहीं किया करते थे। अतः उस समय "हम एक राष्ट्र के हैं" ऐसा भाव जागृत ही नहीं हो सकता था। शनैः शनैः जब मनुष्य की नीच प्रकृति ने उन की उत्तम प्रकृति को दबा लिया, और मनुष्य लोभ-वश तथा स्वार्थ-वश होकर अनधिकार चर्चा करने लगे, तब एक सङ्गठन की आवश्यकता हुई, जिस से कि वे शत्रुओं से अपनी रक्षा कर सकें। तब राष्ट्रभाव की जागृति हुई।

ख—दूसरा अभिप्राय यह हो सकता है कि आरम्भिक मनुष्यसृष्टि मूर्ख थी। अतः उसमें राष्ट्रभाव पैदा होना सम्भव ही न था। संसार ने शनैः शनैः जब उन्हें यह अनुभव दिया कि अपनी रक्षा के लिये एक संघ की आवश्यकता है, तब क्रमानुक्रम से उनमें राष्ट्रभाव उद्बुद्ध हुआ। ऊपर की दो

कल्पनाओं में से वेद को कौनसी कल्पना अभिमत है, यह अभी विचारणीय है। तो भी वेदों के स्वाध्याय से प्रतीत यही होता है कि वेदों को पहिली ही कल्पना अभिमत है, दूसरी नहीं। उपरोक्त दो कल्पनाओं में से कौनसी कल्पना सत्य है, यह विद्वान् स्वयं निश्चय कर लें। परन्तु इन दोनों ही कल्पनाओं में यह सिद्धान्त सामान्य है कि आरम्भ में राष्ट्रभाव न था, राष्ट्रभाव की उत्पत्ति पीछे से हुई है।

(२) जातम्ः—दूसरी बात ध्यान के योग्य यह है कि मन्त्र में यह स्पष्ट बताया है कि राष्ट्र पैदा किया जाता है, यह कोई नित्य वस्तु नहीं। उसी जमीन और उन्हीं मनुष्यों के होते हुए भी एक समय में उस मनुष्यसमुदाय को हम राष्ट्र कह सकते हैं और एक समय में नहीं भी कह सकते। जमीन राष्ट्र नहीं। मनुष्यों का जत्था राष्ट्र नहीं। एक जात के मनुष्य राष्ट्र नहीं। अपितु राष्ट्र एक और ही वस्तु है जो इन मनुष्यों में पैदा की जा सकती है। उस वस्तु के होते हुए, उसी जमीन पर रहने वाला, वही मनुष्यों का जत्था, राष्ट्रपद से कहलाने योग्य हो जायगा। जमीन और मनुष्यों के एक समान रहते हुए, एक देश अराष्ट्र से राष्ट्र में परिवर्त्तित हो सकता है और राष्ट्र से अराष्ट्र में। अर्थात् राष्ट्र का निर्भर तद्देशवासियों की इच्छा-शक्ति और कृति-शक्ति पर निर्भर है।

(३) यहां प्रश्न पैदा होता है कि देश को राष्ट्ररूप में परिवर्तित करने के लिये किस वस्तु की परम आवश्यकता है ? । इसका उत्तर मन्त्र स्वयं दे रहा है कि "तप और दीक्षा की" ।

उद्देश्य की प्राप्ति के लिये चाहे कितने भी कष्ट हों उन्हें सहना और खुशी से सहना यही तप है । यदि हम देश को राष्ट्र में परिवर्तित करना चाहते हैं, तो इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हमारे ऊपर चाहे जितने भी कष्ट आवें उन्हें हम खुशी से सह लें और धैर्य धर उस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये इस पग आगे बढ़ाते जावें—यही तप है । तप में सहने का भाव आता है न कि मारने का । और दीक्षा का अर्थ है— व्रत तथा नियम । तप, भूमि तय्यार करता है व्रत तथा नियम के लिये । अतपस्वी व्रती नहीं हो सकता । न अतपस्वी अपने जीवन को नियमबद्ध ही कर सकता है । उदाहरणार्थ, हमने अपना यह उद्देश्य बना लिया कि हमने भारतवर्ष को स्वराज्य दिलवाना है । इस उद्देश्य की ओर चलते हुए हमें कई कष्टों का सामना करना पड़ेगा । अगर ये कष्ट आवें और हम इन्हें सह लें, और खुशी से सह लें, तो यही हमारा तप का जीवन होगा । परन्तु इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये हमें कई व्रत भी धारण करने पड़ेंगे तथा कई नियम भी ।

इन व्रतों और नियमों का धारण करना और इनके पालन में दृढ़ प्रतिज्ञा करना यही दीक्षा है।

(४) ऋषयः—देश के मुखिया तथा पूर्ण सदाचारी और दूरदर्शी लोगों को अपना वैयक्तिक सुख छोड़ कर अग्रेसर होना यह तीसरी शर्त है जो देश को राष्ट्र में परिवर्तित करने के लिये आवश्यक है। इसी शर्त के दिखलाने के लिये ही ऊपर के मन्त्र में "ऋषयः स्वर्विदः" ये दो पद दिये हैं। ऋषि उन लोगों को कहते हैं, जो कि भविष्यद् के देखने वाले होते हैं, जो कि युक्ति तथा अनुभव के द्वारा नहीं अपितु अपनी आत्मिक शक्ति के द्वारा साध्यवस्तु के तत्त्व को जान लेते हैं। स्वर्विदः का अर्थ है वे मनुष्य जिन्होंने कि अपने कर्मों द्वारा इसी देह में स्वर्ग प्राप्त कर लिया है, जिन का जीवन इस मर्त्यलोक पर भी स्वर्गीय है। ये लोग सदाचार के कितने आदर्श होंगे, इस बात को पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। जब तक ये ऋषि, जो कि स्वर्गीय जीवन के आनन्द में मग्न हैं, अपने वैयक्तिक स्वर्गीय आनन्द को त्याग कर, देश के सामुदायिक आनन्द को अपना आनन्द नहीं समझते, तब तक किसी देश का राष्ट्ररूप में परिवर्त्तित हो जाना असम्भव है।

(५) भद्रम्:—राष्ट्रभाव क्यों पैदा करना चाहिये ?। राष्ट्रभाव के क्या लाभ हैं ?। इस का उत्तर "भद्रमिच्छन्तः"

पदों द्वारा दिया है। भद्र शब्द भद् धातु से बनता है। भद् धातु के दो अर्थ होते हैं। (क) सुख और (ख) कल्याण। सुख से अभिप्राय अभ्युदय का है और कल्याण से निःश्रेयस का। अभिप्राय यह हुआ कि प्रेय और श्रेय दोनों मार्गों की सिद्धि राष्ट्रीय भाव के बिना नहीं हो सकती। अतः इस लोक और परलोक का सुधारना ही राष्ट्रभाव का फल है। यह निश्चित हुआ।

(६) बलमोजः—जनता या देश जब राष्ट्र बन जाता है तब ही उस जनता या देश में राष्ट्रीय बल और राष्ट्रीय ओज पैदा होता है। जो देश राष्ट्र में परिणत नहीं हुआ उस देश में राष्ट्रीय बल और राष्ट्रीय ओज भी पैदा नहीं हो सकता। हाथी में बल है और शेर में ओज। राष्ट्र जब अपने शारीरिक, सैनिक, बुद्धि तथा कोष के बल से अपने शत्रुओं पर विजय पा लेता है, तब उस राष्ट्र में एक विशेष प्रकार का ओज पैदा हो जाता है। प्रत्येक स्वतन्त्र देश की व्यक्तियों में यह ओज हुआ करता है। भारत के पठान में बल है परन्तु उसके सन्मुख खड़े हुए एक स्वतन्त्र देश के बालक में ओज है। इस ओज के प्रताप से वह बली पठान के दम को भी खुश्क कर देता है। बल और ओज में यही अन्तर है।

(७) देवाः—अतः देश के सभी देवों का यह फ़र्ज़ है कि वे इस राष्ट्रभाव की प्राप्ति के लिये उद्योग करें। क्योंकि

देव नाम विद्वान् लोगों का है। समाज के ये ही मुखिया हुआ करते हैं। जब तक मुखिया लोग आगे नहीं बढ़ते तब तक जनता भी आगे नहीं बढ़ती। जनता को उत्साह देने वाले तथा उसके मार्गदर्शक देव लोग ही होते हैं। अतः देवों का फ़र्ज़ है कि वे राष्ट्रभाव की प्राप्ति के लिये अवश्य उद्योग करें, और राष्ट्रभाव, राष्ट्रबल तथा राष्ट्रओज के सामने सीस नमावें। ऋषिकोटि के लोग तो राष्ट्रभाव के प्रवर्तक होते हैं। ये ऋषि, देवों को रास्ता दिखा देते हैं और तत्पश्चात् ये देव लोग सर्वसाधारण जनता के मार्गदर्शक होते हैं।

(८) सम्ः—जनता में राष्ट्रभाव के गौरव को बढ़ाने के लिये यह आवश्यक है कि देवों में परस्पर मतभेद न हों। यदि राष्ट्रभाव के फलाफल के विचार में देवों में परस्पर मतभेद है तो जनता वास्तवरूप से राष्ट्रभाव के महत्व को न जान सकेगी। अतः जहां तक होसके देश के देवों में राष्ट्रभावसम्बन्धी मतभेद न होने चाहियें। देश को सभी देवों को मिलकर राष्ट्रभाव की उन्नति में सहयोग देना चाहिये। यही मन्त्र में 'सम्' पद का अभिप्राय है।

सहनशीलता

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥
अथर्व० १२ । १ । ५४ ॥

(अहम्) मैं (सहमानः) सहनशील (अस्मि) हूं, इसलिये (भूम्याम्) पृथिवी पर (उत्तरः) उत्कृष्ट रूप से (नाम) मैं प्रसिद्ध हूं । (अभीषाट्) शत्रुसेना के सन्मुख आ जाने पर भी मैं सहनशील हूं, (विश्वाषाट्) सब में से मैं अधिक सहनशील हूँ, (आशाम् २) दिक् दिक् में (विषासहिः) विशेष रूप से मैं सहनशील प्रसिद्ध हूँ ॥६३॥

भावार्थः—(१) कौशिक सूत्रों में लिखा है कि मनुष्य जब सभा, समिति में जावे तब वह इस उपरोक्त मन्त्र का जप करे । सभा समिति में सहनशीलता रूपी गुण की बड़ी आवश्यकता है । अपने पर की गई आलोचना को धैर्य से सुन लेना और दूसरे की समालोचना धैर्यपूर्वक करना यह गुण प्रत्येक सभासद में होना चाहिये । और मनुष्य में यह गुण तब तक नहीं आसकता जब तक कि मनुष्य में सहनशीलता नहीं । अतः सहनशीलता की बड़ी आवश्यकता है ।

(२) उत्तरः—सहनशीलता मनुष्य को उत्कृष्ट बनाती है ।

मातृभूमि का यशोगान

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अधिभूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयः तेषु चारु वदेम ते ॥
अथर्व० १२ । १ । ५६ ॥

(ये) जो (ग्रामाः) ग्राम, (यद्) जो (अरण्यम्) वन, (याः) जो (सभाः) सभाएं, (ये) जो (संग्रामाः) युद्ध तथा (समितयः) समितियां, (भूम्यामधि) भूमि पर हैं, (तेषु) उन सब स्थानों में हे मातृभूमि ! (ते) तेरी (चारु) उत्तम स्तुति (वदेम) हम करें ॥ ६४ ॥

भावार्थः—राष्ट्रीय भाव में जन्मभूमि या मातृभूमि के गुणवर्णन का भाग अत्यधिक होता है । मन्त्र उपदेश देता है कि ग्रामों, नगरों, वनों, सभाओं, युद्धभूमियों तथा समितियों में अपनी मातृभूमि का यशोगान सदैव करना चाहिये ।

सभा और समिति, राष्ट्र के सर्वोच्च संगठन हैं । सभा और समिति के सभासद् प्रजा द्वारा चुने हुए होने चाहियें और ये सभा और समिति के सभासद् राजा या सभापति को चुनें ऐसी वैदिक मर्यादा है ।

शत्रुओं का वध और वशीकरण

यो नो द्वेषत्पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन । तं नो भूमे ! रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥
अथर्व० १२ । १ । १४ ॥

(पृथिवि) हे पृथिवि ! (यः) जो (नः) हम से (द्वेषत्) द्वेष करे, (यः) जो (पृतन्यात्[1]) सेना द्वारा हम पर आक्रमण करे, (यः) जो (मनसा) कुटिलनीति द्वारा या अनुचित शिक्षा द्वारा (अभिदासात्) हमें दास बनावे, तथा (यः) जो (वधेन) शस्त्रों द्वारा हमें दास बनावे । (पूर्वकृत्वरि[2]) हे पूर्णरूप से अथवा पूर्वकाल से ही अत्याचारियों का नाश करने वाली (भूमे) भूमि ! (नः) हमारे (तम्) उस शत्रु को (रन्धय[3]) नष्ट कर या हमारे वश कर ॥ ६५ ॥

भावार्थः-(१) यह मन्त्र राष्ट्रीय है । इसमें निम्न-लिखित राष्ट्रीय शत्रु गिनाए हैं । (क) जो हमारे राष्ट्र के

---

(१) पृतनामिच्छेत् ॥

(२) पूर्व+कृत् (छेदने)+क्वनिप्+र+ङीप् ॥ पूर्व=पूर्व-काल या पूर्णता (पूर्व पूरणे) ॥

(३) राधि=हिंसा और संराधन (वशीकरण) ॥

साथ द्वेष करता है। (ख) जो हमारे राष्ट्र पर सेना द्वारा आक्रमण करते हैं। (ग) जो कुटिल नीतियों का अवलम्ब ले हमें दास बनाना चाहते हैं। (घ) तथा जो शस्त्रों द्वारा हमें दास बनाना चाहते हैं।

(२) ऐसों का नाश अवश्य करना चाहिये और उन्हें अपने वश में करना चाहिये। यह राष्ट्रीय धर्म है।

(३) मन्त्र में शत्रु का नाश, आत्मरक्षा के सिद्धान्त पर पुष्ट किया गया है। स्वार्थ के लिये या लूट मार के लिये विजय-यात्रा वेदाभिमत नहीं। हां, अधर्मनाश तथा धर्मस्थापना के लिये विजय-यात्रा (offensive war) भी वेदाभिमत है।

(४) पृथिवी उन शत्रुओं का नाश कर देती है इस का यह अभिप्राय है कि अधिकारमदोन्मत्तता की वजह से शत्रुओं में अभिमान, भोग, धर्मपराङ्मुखता आदि दुर्गुण अवश्य आ जाते हैं और वे शत्रु इन दुर्गुणों की वजह से प्राकृतिक नियमों द्वारा बद्ध हो कर नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं। मानो जिस भूमि पर वे रहते थे उसी भूमि ने उन के बुरे कर्मों का फल उन के नाश के रूप में उन्हें दिया हो।

(५) भूमि में इस प्रकार का स्वाभाविक गुण है यह भाव अथर्ववेद में और भी दो स्थानों पर आया है। यथाः—

क—"अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत ॥ अथर्व० १२ । १ । ५७ ॥

अर्थात् घोड़ा जिस प्रकार अनायास ही अपने खुरों से धूल को कम्पित कर देता है, उसी प्रकार पृथिवी जब से पैदा हुई है तब से ही उस की आदत है कि वह उन जनों को उखेड़ डालती है जो कि पृथिवी का क्षय करते हैं।

ख—"एकशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत । प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभाव्यं पराभवन् ॥ ५ । १८ । १२ ॥

अर्थात् एकसौ एक जनताएं (प्रजाएं या राष्ट्र) थीं जिन्हें पृथिवी ने नष्ट भ्रष्ट किया । वे जनताएं ब्रह्म की भक्त प्रजाओं (ब्राह्मणों) को कष्ट पहुंचा कर असंभाव्य पराभव को प्राप्त हुईं । इस प्रकार ब्राह्मशक्ति का तिरस्कार और क्षात्रशक्ति का प्राबल्य करना भी राष्ट्र की अवनति की निशानी है ।

राष्ट्रीय व्यक्तियों के मनों और हृदयों में मेल

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥
अथर्व० ६ । ६४ । ३ ॥

हे राष्ट्रीयजनो ! (वः) तुम्हारा (आकूतिः) संकल्प (समानी) एक हो, (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय (समाना) एक हों । (वः) तुम्हारा (मनः) मन (समानम्) एक (अस्तु) हो, (यथा) जिस से (वः) तुम्हारा (सुसह) उत्तम मेल (असति) हो ॥ ९६ ॥

भावार्थः—प्रत्येक सामूहिक कार्य के लिये कार्यकर्ताओं में मेल चाहिये और वह मेल तब हो सकता है जब कि कार्यकर्ता (१) एकमन और (२) एकदिल हों तथा (३) उनका संकल्प भी एक हो । भिन्न भिन्न संकल्प होने से भी शक्ति बंट जाती है ।

राष्ट्र में ब्राह्मणों को मृदु जान उन्हें कष्ट न देना चाहिये

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात् ।
सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥
अथर्व० ५ । १८ । ५ ॥

(देवपीयुः) देवों अर्थात् ब्राह्मणों से विद्वेष करनेवाला (धनकामः) और धनलोलुप (यः) जो राजा (न चि-

त्वात्) अज्ञानता से (एनम्) इस ब्राह्मण को (मृदुं) कोमलस्वभाव (मन्यमानः) मानता हुआ (हन्ति) मारता है या इसका नाश करता है, (इन्द्रः) इन्द्र अर्थात् परमात्मा (तस्य) उस के (हृदये) हृदय में (अग्निम्) आग (सम्-इन्धे) जला देता अर्थात् लगा देता है, (चरन्तम्) और चलते फिरते (एनम्) इस राजा के साथ (उभे) दोनों (नभसी) द्युलोक और पृथिवीलोक (द्विष्टः) द्वेष करते हैं ॥९७॥

भावार्थः—इस और अगले मन्त्रों में किसी वैयक्तिक द्वेष का वर्णन नहीं। किसी एक राजा या किसी एक ब्राह्मण के पारस्परिक वैमनस्य का इन मन्त्रों में जिक्र नहीं। यहां ब्राह्मण से अभिप्राय ब्राह्मणभाव या ब्राह्मणत्व का है। ब्राह्मण उसे कहते हैं जो कि (क) वेदविद्या में निपुण हो, ब्रह्म अर्थात् वेदों का जाननेवाला हो। (ख) परमात्मा का भक्त अर्थात् ब्रह्मज्ञानी और ब्रह्मध्यानी हो। (ग) तथा संसार के उपकार में रत हो।

इस मन्त्र में प्रश्न यह उठाया है कि राष्ट्र में ब्राह्मणभाव को प्राधान्य देना चाहिये या वैश्यभाव को। अर्थात् राष्ट्र में विद्या, आस्तिकता तथा उपकार के भावों की अधिक कदर होनी चाहिये या धन की।

राष्ट्र या राष्ट्र का प्रतिनिधि राजा जब धन की कदर अधिक करता है तब वह अवश्य ही ब्राह्मणभाव को उच्चस्थान न देगा। उस राष्ट्र में धन की वृद्धि तो होती जायगी, परन्तु विद्या तथा परोपकारादि सद्गुणों का वहां ह्रास ही रहेगा। ऐसे राष्ट्र में विद्या, परोपकार आदि सद्गुणों का भी मूल्य टके की परिभाषा में लगाया जायगा। इस प्रकार जब राष्ट्र या राजा धनकाम हो जाता है, अर्थात् जब राष्ट्र या राजा की कामना का विषय एकमात्र या प्रधानरूपेण धन ही हो जाता है, तब वह राष्ट्र देवपीयु बन जाता है। उस राष्ट्र में तब देवों अर्थात् विद्वानों और सदाचारियों की कदर नहीं होती। लोगों की रुचि भी शनैः शनैः धन की ओर बढ़ती जाती है। लोगों के हृदयों में ब्राह्मणभाव या देवभाव के लिये सत्कार नहीं रहता, और परिणाम यह होता है कि उस राष्ट्र में से ब्राह्मणभाव का नितान्त विलोप हो जाता है। राष्ट्रीय दृष्टि से इस का नाम "ब्राह्मण-घात" है। परन्तु परमात्मा के नियम स्थिर और अचल हैं। राष्ट्र में जैसे जैसे ब्राह्मणभाव का विलोप और वैश्यभाव का प्राबल्य होने लगता है, उस के साथ ही साथ राष्ट्र में स्वार्थ, लोभ, विषयपरायणता, भोग, पराधिकारापहार, अन्याय आदि दुर्गुणों की भी वृद्धि होने लगती है। जिन की समाप्ति राष्ट्र के अन्तःकलह अथवा परराष्ट्रीय संग्रामों आदि के रूपों में दृष्टिगोचर होती है।

यह परमात्मा का अटल नियम है। उस समय जनता के हृदय में सन्ताप होता है। मानो कि उन के हृदयों को दुःख, शोक, अनुताप तथा सन्ताप की अग्नियां दग्ध कर रही हैं। यह भाव मन्त्र में "अग्नि समिन्धे" से दर्शाया है।

मन्त्र में एक और भी कल्पना की है। वह यह कि राष्ट्र जिस समय धन सम्पत्ति से भरपूर होता है, जनता भोगविलास के उपवनों में खूब विहार करती है। जिस द्यावा-पृथिवी की गोद में, वह सुख सामग्री में मस्त हो, विषयसुखों में निमग्न रहती थी, अन्त में फलपरिपाक के समय मानों वे द्यावापृथिवी भी उस से द्वेष करने लगते हैं। यतः अब उत्कट भोग आदि का परिणाम जनता के संहार के रूप में आगया है। जनता अब पूर्ववत् द्यावापृथिवी की गोद में सुखपूर्वक विश्राम नहीं कर सकती। अब तो उस जनता का स्वकर्मानु-सार नाश होना ही है। अतः मानो कि मातापितृरूप द्यावापृथिवी ने भी अब उस जनता रूपी पुत्र को गोद देने से इन्कार कर दिया है, कि जा!! अब तू इस योग्य नहीं कि तुझे अपनी गोद में लालनापूर्वक विश्राम दिया जाय।

परन्तु प्रश्न पैदा होता है कि क्या कोई उपाय है कि जिससे धनकासुकराष्ट्र ब्राह्मणभावप्रधान बन सके? । इस के उत्तर के लिये ही मन्त्र में "न चित्तात्" यह पद पढ़ा है।

मन्त्र में बताया है कि राष्ट्र जब "देवपीयु" या ब्राह्मण-घाती बनने लगता है, तब उसका मूलकारण "न चित्तात्" अर्थात् अज्ञान ही होता है। अतः राष्ट्र में ब्रह्मप्रधानज्ञान, तादृश शिक्षा तथा तादृश विद्या के अधिक प्रचार से राष्ट्र को उचित मार्ग पर लाया जा सकता है, यह वैदिक सिद्धान्त है।

इस प्रकार इस मन्त्र में स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि "राष्ट्र को धनकाम न होना चाहिये अपितु मे देवप्रिय होना चाहिये। तथा इस भाव की स्थिरता के लिये राष्ट में शिक्षा का प्रचार अधिक होना चाहिये"।
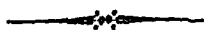
ब्राह्मण, राष्ट्र-देह की प्रिय अग्नि है.

न ब्राह्मणो हिंसितव्योऽग्निः प्रियतनोरिव।
सोमो ह्यस्य दायादः इन्द्रो अस्याभिशस्तिपाः॥
अथर्व० ५। १८। ६॥

(ब्राह्मणः) ब्राह्मण की (न) न (हिंसितव्यः) हिंसा करनी चाहिये, (प्रियतनोः) प्यारे देह की (अग्निः) आग (इव) के तुल्य यह ब्राह्मण है। (सोमः) सोम

ओषधि (हि) केवल (अस्य) इस ब्राह्मण का (दायादः) पुत्र है। (इन्द्रः) और इन्द्र (अस्य) इस ब्राह्मण की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करता है ॥ ६८ ॥

भावार्थः—अपना देह प्रत्येक को प्रिय है। इस प्रिय देह की कान्ति तथा स्थिरता इस में रहने वाली आग की वजह से है। यदि शरीर की आग शान्त हो जाय तो आदमी ठंढा पड़ कर मृत्यु का रास्ता देखेगा।

इसी प्रकार राजा, राष्ट्रों तथा राष्ट्रनायकों को यह जानना चाहिये कि जो राष्ट्र उन को परमप्रिय है, उस प्रिय राष्ट्रतनु की आग ये ब्राह्मण लोग ही हैं। राष्ट्रतनु में ब्राह्मणाग्नि के न रहने से राष्ट्रीयतनु ठंढी हो मिट्टी में मिल जायगी।

0

राजाओं, राष्ट्रों और राष्ट्रनायकों को यह भी जानना चाहिये कि ये ब्राह्मण, जिन्होंने कि संसार के सब मोह जाल तोड़, संसार को उन्नत करने के लिये, यज्ञादि उत्तम कर्मों के साधन सोमलता आदि में ही अपनी पुत्रबुद्धि पैदा कर, उन कर्मों द्वारा संसारमात्र के उपकार के लिये कमर कसी है, उनकी रक्षा करना तथा राष्ट्र में उनकी वृद्धि करना उन का परम धर्म है। यदि राष्ट्र अपने कर्तव्य से च्युत हो कर ऐसे ब्राह्मणों की रक्षा न करेगा तो याद रक्खो कि इन्द्र अर्थात्

राजाधिराज परमात्मा ऐसे अत्याचारों से उन ब्राह्मणों की स्वयं रक्षा करेंगे। क्योंकि परमात्मा को यही अभीष्ट है कि सत्य, असत्य पर विजय अवश्य पावे। राष्ट्रीयदेह में ब्राह्मणाग्नि का अभाव कर देना परमात्मा को अभीष्ट नहीं।

जो राष्ट्र ब्राह्मणों को कष्ट देता है वह कष्टों और क्लेशों का घर हो जाता है

ये ब्राह्मणं प्रत्यष्ठीवन् ये वास्मिन् शुल्कमीषिरे।
अस्नस्ते मध्ये कुल्यायाः केशान् खादन्त आसते॥
अथर्व० ५।१९।३॥

(ये) जिन्हों ने (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (प्रत्यष्ठीवन्) देशनिकाला दिया है, (वा) अथवा (ये) जिन्हों ने (अस्मिन्) इस से (शुल्कम्) कर (ईषिरे) उगाहा है। (ते) वे राष्ट्रीय लोग (अस्नः) रुधिर की (कुल्यायाः) नहर के (मध्ये) बीच में (केशान्) क्लेशों को (खादन्तः) भोगते हुए (आसते) रहते हैं॥ ९९॥

---

(१) ष्ठिवु निरसने, प्रत्यष्ठं निरस्तवन्तः, बहिष्कृतवन्तः।

(२) असृक् पद का प्रयोग।

भावार्थः—जो राष्ट्र, ब्राह्मणभाव से विमुख बल्कि उस का साक्षात् विद्वेषी हो गया है, और यहांतक उतर आया है कि उस ने ब्राह्मणभाव को देश से ही निकाल दिया है। तथा जिस राष्ट्र ने ब्राह्मणों पर भी कर लगा दिया है, ऐसे राष्ट्र में सच्चे ब्राह्मणभाव की जागृति नहीं होती। परिणाम यह होता है कि उस राष्ट्र में क्षात्रभाव, वैश्यभाव या शूद्रभाव प्रधान हो जाता है। इस से राष्ट्र का झुकाव भोगविलास की ओर बढ़ जाता है। या उस राष्ट्र का क्षात्रबल दर्प में आकर बलात्कार करने लगता है। अन्त में अन्तर्राष्ट्रीय और परराष्ट्रीय दङ्गे आ उपस्थित होते हैं। और राष्ट्र भर युद्धजन्यरुधिरकुल्या में क्लेश को भोगता है। अतः राष्ट्र में ब्राह्मणभाव की प्रधानता होनी चाहिये, ब्राह्मणों का सत्कार और उन की रक्षा होनी चाहिये। तभी राष्ट्र में विद्या, परोपकारभाव, सदाचार, कर्त्तव्यपरायणता, आत्मत्याग आदि शुभगुणों का निवास हो सकता है।

जिस राष्ट्र में ब्राह्मणों को कष्ट दिया जाता है वह राष्ट्र नष्ट हो जाता है

उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति ।
परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते ॥
अथर्व० ५ । १९ । ६ ॥

(यः) जो (उग्रः) प्रचण्ड (राजा) राजा (मन्यमानः) गर्व करता हुआ (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (जिघत्सति) नष्ट करना चाहता है। (तत्) वह (राष्ट्रम्) राष्ट्र (पराsिच्यते) वह जाता है, (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (जीयते) निरादृत होता है ॥ १०० ॥

भावार्थः—राष्ट्रपति जब (१) उग्रस्वभाव और (२) गर्ववाले होजाते हैं तो वे ब्राह्मणभाव का निरादर करने लगते हैं। क्रमशः जैसे जैसे राष्ट्र में ब्राह्मणभाव का ह्रास होता जाता है वैसे वैसे वह राष्ट्र दुःखधारा में बहने लगता है। अतः राष्ट्र में ब्राह्मण-भाव का कभी तिरस्कार न होना चाहिये। इस मन्त्र में पठित राजा और राष्ट्र पद इस बात को पुष्ट कर रहे हैं कि ये मन्त्र राष्ट्रीय हैं। इन मन्त्रों में राष्ट्रधर्म का प्रतिपादन है।

ब्राह्मण-हिंसक-राष्ट्र को दुर्गति मार डालती है

तद्वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥

अथर्व० ५ । १९ । ८ ॥

(वै) निश्चय से (दुच्छुना) दुर्गति (तद्) उस (राष्ट्रम्) राष्ट्र में (आस्रवति) घुस जाती है । (इव) जैसे (उदकम्) जल (भिन्नाम्) छिन्न भिन्न (नावम्) नौका में घुस जाता है । (यत्र) जिस राष्ट्र में (ब्रह्माणम्) ब्राह्मण को (हिंसन्ति) सताते हैं (तद्) उस (राष्ट्रम्) राष्ट्र को (दुच्छुना) दुर्गति (हन्ति) मार डालती है ॥१०१॥

भावार्थः—इस मन्त्र में राष्ट्र पद तथा हिंसन्ति में बहु-वचन इस बात में प्रमाण है कि ये मन्त्र राष्ट्र तथा राष्ट्रीय जनों के साथ सम्बन्ध रखते हैं । इन मन्त्रों में ब्राह्मण के साथ किसी वैयक्तिक विद्वेष की कोई चर्चा नहीं ।
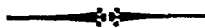
विना ब्राह्मणों के राष्ट्रीय सभा समिति में सामर्थ्य नहीं आता

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥
अथर्व० ५ । १६ । १५ ॥

(मैत्रावरुणम्) सूर्य और वायुजन्य (वर्षम्) वर्षा, (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्म को सताने वाला राष्ट्र (अभि) पर (न) नहीं (वर्षति) बरसती । (न) और न (अस्मै) इस राष्ट्र के लिये (समितिः) सभा समिति (कल्पते) सामर्थ्य वाली होती है, (न) और न वह राष्ट्र (मित्रम्) मित्रराष्ट्र को (वशम्) वश में (नयते) ला सकता है ॥ १०२ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में तीन बातों की ओर निर्देश किया है:—

(१) ब्रह्मघाती राष्ट्र पर वर्षा नहीं होती । यह एक वैदिक सिद्धान्त है कि संसार और सांसारिक परिवर्तनों का मूल-कारण हमारे पुण्यापुण्यात्मक कर्म ही हैं । हमें कर्मफल भोगने के लिये ही परमात्मा ने संसार को व्याकृत अवस्था दी है । अतः यह सिद्धान्त भी सत्य प्रतीत होता है कि "पतित राष्ट्र पर प्रकृति भी प्रकोप प्रकट करती है ।" ताकि उस राष्ट्र के लोग अपने कर्मों के फल भोग सकें । कभी वर्षा का बहुत

होना, कभी उस का बिलकुल भी न होना, कभी जबर्दस्त भूचाल होना और कभी अन्य प्राकृतिक विक्षोभ होने, इन सब का अन्तिम उद्देश्य जनों को उनके किये कर्मों का फल भोगवाना मात्र ही है। इसीलिये मन्त्र में कहा है कि ब्रह्मघाती राष्ट्र पर वर्षा नहीं होती। यह केवल उदाहरणमात्र है। अभिप्राय यह है कि वह राष्ट्र जो कि ब्रह्मप्रतिनिधिक भावों का सर्वथा विरोधी है, वर्षा आदि प्राकृतिक कृपाओं का पात्र नहीं रहता और आपत्तियों का सर्वदा शिकार बना रहता है।

वैदिक साहित्य में मित्र का अर्थ—ब्राह्मण तथा वरुण का अर्थ—राजा भी होता है। जिस राष्ट्र में मित्र और वरुण अर्थात् ब्राह्म और क्षात्रबल मिलकर कार्य करते हैं उस राष्ट्र पर सदैव सुखों की वर्षा होती रहती है। और जिस राष्ट्र म ब्राह्मबल का तिरस्कार है वहां ब्राह्मण और क्षत्रियों के समुदित बल से पैदा होने वाली सुखों की वर्षा भी नहीं होती यह अभिप्राय भी ऊपर लिखे वाक्य का हो सकता है।

(२) दूसरी बात यह दर्शाई है कि ब्रह्मघाती राष्ट्र की सभा और समिति सामर्थ्यवाली नहीं रहतीं। सभा और समिति राष्ट्रीय संगठन हैं। इन का जो भी मनुष्य संचालक होता है उसे राजा कहते हैं। वैदिक राष्ट्रीय व्यवस्था में राष्ट्र को पैतृक सम्पत्ति नहीं गिना गया। जिस राष्ट्र में

ब्राह्मणभाव का निरादर होता है, उस राष्ट्र की सभा और समिति में भी ब्राह्मणों को कोई स्थान न दिया जायगा। जिस का यह स्वाभाविक परिणाम होगा कि सभा और समिति का मन्त्रबल घट जायगा। यतः उस में शिरोभाग का अभाव है। शिर के अभाव में धड़ किसी कार्य्य में सफल नहीं हो सकता। राष्ट्रीयदेह के ब्राह्मणरूपी शिर के अभाव में राष्ट्रीय सभा और समिति धड़मात्र अवशेष है। अतः शिर के अभाव में उस धड़ का कार्यक्षम होना असम्भवप्राय है।

(३) मन्त्र में तीसरी बात यह दर्शाई गई है कि राष्ट्र में ब्राह्मणों को ऊंचा स्थान न देने से शत्रु, मित्र और उदासीन राष्ट्रों के पारस्परिक संबन्धों में कभी भी अभीष्ट कामयाबी नहीं हो सकती। अतः ब्राह्मणों का निरादर करनेवाला राष्ट्र कभी भी मित्र, अमित्र और उदासीन राष्ट्रों पर अपना उचित प्रभाव नहीं जमा सकता॥

ऋण चुकाने में ईमानदारी

इहैव सन्तः प्रतिदद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो निहराम एनत्।
अपमित्य धान्यं यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि॥
अथर्व० ६।११७।२॥

(इह) इस देह में (एव) ही (सन्तः) वर्तमान हम (एतत्) इस ऋण को (प्रतिदद्मः) चुका देते हैं, (जीवाः) जीते हुए हम (जीवेभ्यः) जीते हुए उत्तमर्णों को (एतत्) यह उधार (नि) नियम से (हरामः) देदेते हैं। (यदिदम्) जो कुछ (धान्यम्) धान्य (अपमित्य)[1] उधार लेकर (अहम्) मैंने (जघस)[2] खाया है (तत्) वह भी (निहरामि) देदेता हूं, (अग्ने) हे अग्नि! आपको साक्षी करके (अनृणः) मैं ऋणमुक्त अर्थात् उऋण (भवामि) होता हूं॥ १०३॥

भावार्थः—जो उधार लेता है उसे कहते हैं अधमर्ण। अर्थात् ऋण के सम्बन्ध में अधम। और जो उधार देता है उसे कहते हैं उत्तमर्ण अर्थात् ऋण के सम्बन्ध में उत्तम। यह मन्त्र अधमर्ण के मुख से उच्चारित करवाया है। अधमर्ण यह अनुभव कर रहा है कि ऋण अवश्य चुका देना चाहिये। ऋण का न चुकाना पाप है। अधमर्ण यह भी कह रहा है कि इस देह में लिया हुआ ऋण इसी देह में रहता हुआ मैं चुका देता हूं। अपने जीवन काल में ही मैं, अपने जीते हुए ही उत्तमर्ण को, लिया धन चुका देता हूं। यदि मैंने धान्य-

(१) अप+मेङ् (प्रणिदाने)+तुक्+ल्यप्।
(२) अद् भक्षणे, अद् के स्थान में घस्लृ हुआ।

सम तुच्छ वस्तु भी किसी से उधार लेकर खाई है, तो उसे भी मैं चुका देता हूं। और ऋण चुकाने में, वह अधमर्ण, अग्नि को साक्षी मान कर कहता है कि मैं अब उऋण होता हूं।

स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकरण में कोई भी ऐसा मन्त्र नहीं, जिस में उत्तममर्ण के मुख से यह फ़िक्र दिखाई हो कि मेरा अमुक ऋण, मुझे मिलेगा या नहीं अपितु इन मन्त्रों में उसके फ़िक्र का वर्णन है जिसने कि ऋण लिया है। इससे साफ़ प्रतीत हो रहा है कि "वैदिक समाजसंगठन" में ऋण सम्बन्धी कितनी ईमानदारी है। वैदिकसमाज के सदाचार का यह एक बहुत ही उत्तम नमूना है कि इस समाज में अधमर्ण को ऋण चुकाने की फ़िक्र है, और उत्तमर्ण को ऋण लेने की कोई फ़िक्र ही नहीं।

साथ ही यह भी ध्यान करना चाहिये कि वर्त्तमान समाज में ऋण लेने और चुकाने में कितने बखेड़े करने पड़ते हैं। परन्तु वैदिक समाज में ऋण लेने और चुकाने में कोई भी टंटा नहीं। दोनों समयों में साक्षी (Witness) के तौर पर केवल अग्नि ही उपस्थित है।

दशवां प्रकरण

अन्तर्राष्ट्रीय और विश्वप्रेम के भाव

मित्र और शत्रु के साथ ऐकमत्य

संज्ञानं नः स्वेभिः संज्ञानमरणेभिः ।
संज्ञानमश्विना युवमिहास्मासु नियच्छतम् ॥

अथर्व० ७ । ५२ । १ ॥

(स्वेभिः) अपनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) ऐकमत्य हो, (अरणेभिः) शत्रुओं के साथ (संज्ञानम्) ऐकमत्य हो । (अश्विना=अश्विनौ) हे अश्वि देवताओ ! (युवम्) तुम दोनों (इह) इस [राष्ट्रीय जीवन में] (अस्मासु) हम में (संज्ञानम्) ऐकमत्य (नियच्छतम्) नियत करो ॥ १०४ ॥

भावार्थः—(१) इस मन्त्र में एक राष्ट्र के लोगों में तथा एक राष्ट्र और दूसर राष्ट्र के लोगों में पारस्परिक ऐक-

मत्य की प्रार्थना है। एकता, बिना ऐकमत्य के असम्भव है। यदि प्रत्येक के विचार, उद्देश्य, रुचि तथा रीति भिन्न भिन्न हैं, तो उस समाज में एकता का होना दुष्कर है। अतः एकता के लिये ऐकमत्य होना आवश्यक है। राष्ट्रों में पारस्परिक मैत्री के प्रस्तावों के पास हो जाने पर भी एकता नहीं हो सकती यदि उन में ऐकमत्य नहीं। अतएव इस मन्त्र में ऐकमत्य पर बल दिया गया है।

(२) निरुक्तकार ने अश्विपद की व्याख्या में "पुण्यकृतौ राजानौ" ऐसा भी कहा है, यथाः—निरु० १२। १॥ अतः सम्भव है कि राष्ट्र के दो राजा यहां अश्विनौ से अभिप्रेत हों। राष्ट्र में दो राष्ट्रीय सङ्गठन होते हैं। (क) सभा (ख) समिति। सभा=Civil Council और समिति=War Council। अतः सभापति और समितिपति सम्भवतः यहां अश्विनौ पद से लिये जायें।

नोटः—(क) संज्ञानम्, सम्=समान या एक, ज्ञान=मति। (ख) अरणेभिः=(१) अ+रण। अथवा (२) अ+रमण। रण का अर्थ है—शब्द। अतः अरण=जिन के साथ बात तक न हो। अतः अरण=शत्रु। इसी प्रकार रमण का अर्थ है प्रसन्नता, खुशी, मेल जोल। अतः अरमण=जिन के साथ हमारा रमण न हो। अरमण में म का लोप हो गया है। अतः इसका अर्थ भी शत्रु ही हुआ।

ऐकमत्य के मूलकारण

(१) ऐकमत्य की वास्तविक अभिलाषा (२) सम्यक् ज्ञान

संजानामहै मनसा संचिकित्वामायुष्महि मनसा दैव्येन ।
मा घोषा उत्स्थुर्बहुले विनिर्हते मेषुः पप्तदिन्द्रस्याहन्यागते ॥
अथर्व० ७ । ५२ । २ ॥

(मनसा) मन से (संजानामहै) हम एकमत वाले हों, (चिकित्वा) सम्यक् ज्ञानपूर्वक (सम्) हम एकमत वाले हों, (दैव्येन) दिव्य गुणोंवाले (मनसा) इस मन से (मा) मत (युष्महि) जुदा हों । (बहुले) बड़े (विनिर्हते) युद्धों में होने वाले (घोषाः) आर्त्तनाद (मा) मत (उत्स्थुः) उठें, (अहनि) युद्ध-दिन के (आगते) आ जाने पर भी (इन्द्रस्य) राजा या सेनापति का (इषुः) बाण (मा) मत (पप्तत्) गिरे ॥ १०५ ॥

भावार्थः—(१) ऐकमत्य, सभाओं के संगठनमात्र से पैदा नहीं हो जाता, और न ही इकट्ठे होकर वक्तृताओं के देने से । ऐकमत्य तभी पैदा होता है जब कि हम मनों से चाहें कि हम में ऐकमत्य पैदा हो जाय । मानसिक भावों के वैपरीत्य में भी यदि किसी एक विशेष स्वार्थ की सिद्धि के लिये हम ऐकमत्य चाहते हैं तो ऐकमत्य का होना सर्वथा अ-

सम्भव है। ऐकमत्य के लिये आवश्यक है कि ऐकमत्य चाहने वालों के दिल साफ़ हों और वे वास्तव में ऐकमत्य को चाहते भी हों। ऐकमत्य को वे उद्देश्य के तौर पर रक्खें न कि ऐकमत्य को किसी विशेष स्वार्थ की सिद्धि के लिये आड़ बनावें।

आजकल के "राष्ट्रीय संघ" इसी लिये सफल नहीं होते कि प्रत्येक राष्ट्र के प्रतिनिधि, अपने २ स्वार्थों के आधार पर, दूसरे प्रतिनिधियों के सन्मुख, ऐकमत्य के सिद्धान्त को एक झूठा जामा पहिनाना चाहते हैं। यदि ये प्रतिनिधि वास्तव में परस्पर स्थिर ऐकमत्य चाहते हैं तो इन को ऐकमत्य की सच्चाई को सच्चे दिलों से स्वीकार करना चाहिये। और सच्चे मन से ऐकमत्य के आन्दोलन के लिये कटिबद्ध होना चाहिये।

(२) ऐकमत्य की प्राप्ति के पूर्व हमें ऐकमत्य के गुण दोषों पर सम्यक् रीति से विचार कर लेना चाहिये। जो काम विचारपूर्वक किया जाता है उस में अधिक स्थिरता होती है इसीलिये ही मन्त्र में कहा है कि हम सम्यक् ज्ञानपूर्वक ऐकमत्य के चाहने वाले हों। इस प्रकार जब सारे राष्ट्र, ऐकमत्य के गुणावगुण पर विचार करने के बाद भी इसी सिद्धान्त पर पहुँचेंगे, कि सब राष्ट्रों की रक्षा और शान्ति के लिये राष्ट्रों में ऐकमत्य का होना परम आवश्यक है, तब ही

वास्तव में ऐकमत्य हो सकता है, अन्यथा नहीं।

(३) इसलिये मंत्र में यह इच्छा प्रकट की गई है कि हम इस दिव्य गुणों वाले मन से जुदा न हों। क्योंकि सब प्रवृत्तियों का मूल मन है। वे प्रवृत्तियें चाहे अच्छी हों या बुरी। यदि मन में यह दिव्य चाह है कि हम में ऐकमत्य हो तो हम में ऐकमत्य अवश्य हो जायगा। अतः ऐकमत्य के लिये मानसिक विचारों, इच्छाओं और आकाङ्क्षाओं को इस प्रकार ढाल लेना चाहिये ताकि हमारे प्रयत्न भी उसी मानसिक उद्देश्य की सिद्धि के लिये लगें। इसलिये मन की उपरोक्त शुभ इच्छाओं का त्याग कभी भी न करना चाहिये। उन शुभ इच्छाओं पर पुनः २ विचार, उन का भावन, उन के उत्तम फलों का मानसिक दर्शन तथा उन के शुभ पहलू का चिन्तन इस प्रकार सदैव मन में ऐकमत्य के उत्तेजक भावों को स्थान देना चाहिये।

(४) तभी यह शुभ परिणाम हो सकता है कि बड़े २ युद्ध इस मानवजगत् से सर्वदा के लिये उठ जायं। और युद्धों में होने वाले आर्त्तनाद कभी भी श्रवणगोचर न हों।

(५) इस ऐकमत्य के सिद्धान्त को दिल से मान लेने से ही यह भी परिणाम हो सकता है कि यदि किसी समय एकाध राष्ट्र की बेवकूफी की वजह से वास्तव में राष्ट्रीय

~~सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सार्वभौमिक वैरत्याग का वर्णन है।~~ युद्ध-दिन आ उपस्थित भी हो, तो शेष राष्ट्रों में ऐकमत्य विषयक स्थिर और निश्चित सम्मति के प्रभाव से, राजाओं के शस्त्र एक दूसरे पर तब भी गिरने न पावें। यह "पर राष्ट्र-नीति" वेद की सर्वोच्च शिक्षाओं में से एक ऊंचे दर्जे की शिक्षा है।

सर्वदिङ् निर्वैरता

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि॥

अथर्व० ६। ४०। ३॥

[क] (इन्द्र) हे बलशाली परमात्मन्! (अधरात्) दक्षिण दिशा से (नः) हमारे लिये (अनमित्रम्) निर्वैरता (कृधि) कर, (उत्तरात्) उत्तर दिशा से (नः) हमारे लिय (अनमित्रम्) निर्वैरता कर। (पश्चात्) पश्चिम दिशा से (नः) हमारे लिये (अनमित्रम्) निर्वैरता कर, (पुरः) पूर्व दिशा से (अनमित्रम्) निर्वैरता कर।

[ख] (इन्द्र) हे बलशाली परमात्मन्! (अधरात्) दक्षिण दिशा में (नः) हमारी (अनमित्रम्) निर्वैरता (कृधि)

कर, (उत्तरात्) उत्तर दिशा में (नः) हमारी (अनमित्रम्) निर्वैरता कर। (पश्चात्) पश्चिम दिशा में (नः) हमारी (अनमित्रम्) निर्वैरता कर, (पुरः) पूर्व दिशा में निर्वैरता कर ॥ १०६ ॥

भावार्थः—ऊपर के मन्त्र के दोनों प्रकार के अर्थ हो सकते हैं। क्योंकि अधरात् आदि पद पञ्चम्यन्त भी हो सकते हैं और इन में सप्तमी में आति प्रत्यय भी समझा जा सकता है। पञ्चमी का अर्थ "से" और सप्तमी का "में" होता है। अतएव उपरोक्त अर्थों में "दिशा से" और "दिशा में" दोनों अर्थ दिखाये गये हैं। इसी प्रकार "नः" पद द्वितीया, चतुर्थी और षष्ठी तीनों विभक्तियों में बनता है। अतः "हमें" "हमारे लिये" "हमारी" ये तीनों अर्थ नः के किये जा सकते हैं।

अतः मन्त्र का अभिप्राय यह है कि (१) न तो किसी दिशा से कोई व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र हमारे साथ वैर-विरोध करने वाला हो, और (२) न हम ही किसी भी दिशा में स्थित किसी भी व्यक्ति, समाज, अथवा राष्ट्र के साथ वैर-विरोध करने वाले हों। अर्थात् हम सब को मित्र की दृष्टि से देखें तथा और सब हम को मित्र की दृष्टि से देखें।

इस मन्त्र में वैयक्तिक वैर त्याग का वर्णन नहीं। अपितु सामाजिक, राष्ट्रीय तथा सार्वभौमिक वैरत्याग का वर्णन है।

अतः निर्वैरता का यह बहुत ऊंचा आदर्श है। यतः इसमें समाजों, राष्ट्रों तथा अन्य भी संगठनों के साथ वैर विरोध त्याग का मूल पाया जाता है। और यह भाव वैयक्तिक वैर-त्याग के भाव से बहुत ऊंचा है। इस मन्त्र में वर्णित वैरत्याग के असूलों को सदा दृष्टि में रखना चाहिये।

(१) वैरत्याग दोनों ओर से होना चाहिये। तभी परस्पर मैत्री और स्नेह हो सकता है। (२) वैरत्याग के लिये दिल में वैसी ही भावना भी हो। और यह भावना उत्कट हो। दबी हुई अवस्था में न हो ऐसी उत्कट हो कि उसका प्रभाव व्यक्ति की दैनिक प्रार्थनाओं में भी हो। ताकि वेद हमारे जीवन का एक अंग बन जावें। तभी वास्तव में परस्पर मैत्री हो सकती है। दिलों में वैरभाव के होते हुए कर्मों में मैत्री का होना सर्वथा असम्भव है।

प्रेम का विस्तार प्राणिमात्र तक

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥

अथर्व० १९। ६२। १॥

(देवेषु) देवों में (मा) मुझे (प्रियम्) प्यारा (कृणु) कर, (राजसु) राजाओं में (मा) मुझे (प्रियम्) प्यारा

(कृणु) कर । (उत) और (शूद्रे) शूद्रों में (उत) तथा (आर्ये) आर्यों में मुझे प्यारा कर, (सर्वस्य) सब (पश्यतः) देखने सुनने वालों का (प्रियम्) मुझे प्यारा कर ॥ १०७ ॥

भावार्थः—(१) देव पद से यहां ब्राह्मणों का तथा राज पद से क्षत्रियों का ग्रहण प्रतीत होता है ।

(२) शूद्र पद में जात्येकवचन है । अर्थात् शूद्र" पद जातिवाचक है। अतः शूद्र से सब शूद्रों का ग्रहण है ।

(३) उतार्ये पद में आर्य पद पृथक् करना चाहिये न कि अर्य पद । अर्य का अर्थ वैश्य और स्वामी होता है । और आर्य का अर्थ चारों वर्ण अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र । यद्यपि आर्य पद चारों वर्णों का वाचक है, तो भी इस मन्त्र में आर्य पद से वैश्यों का ग्रहण ही प्रतीत होता है । चूंकि मन्त्र में ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रों का वर्णन पृथक् किया है । यहां सामान्य पद का विशेष अर्थ में सङ्कोच हुआ है ।

(४) मन्त्र में दो इच्छायें प्रकट की गई हैं (क) मैं सब वर्णों का प्यारा बनूं (ख) मैं सब प्राणियों का प्यारा बनूं । मनुष्य उसी हालत में दूसरों का प्यारा बन सकता है जबकि वह उन का अपकार न करे, प्रत्युत उपकार करे ।

(५) यह स्मरण रखना चाहिये कि उपरोक्त चारों वर्णों में शूद्र का भी जिक्र है। अतः वैदिक सदाचार में शूद्रों के प्रति अपकार न करना प्रत्युत उपकार करना धर्म गिना गया है। अतः वेद में शूद्रों के प्रति कोई घृणा का भाव प्रकट नहीं किया गया। यह हो ही कब सकता था जब कि मनुष्य-समाज को परमात्म-देह कल्पित कर उस परमात्म-देह के एकदेश को शूद्रों से रूपित या उपमित किया गया है। देखो यजु० अ० ३१। मं० ११।

(६) दूसरी बात यह भी स्मरण रखनी चाहिये कि इस मन्त्र में मनुष्य-समाज तक ही अपने प्रेमभाव को सीमित नहीं किया, अपितु जो भी देखने और सुनने वाला प्राणी है उसके प्रति भी प्रेमभाव का प्रकाश किया है। इस प्रकार यह मन्त्र सर्वभूतमैत्री के आदर्श तक पहुंचने का निर्देश करता है।

सब में आत्मबुद्धि

अयुतोहमयुतो म आत्मायुतं मेचक्षुरयुतं मे श्रोत्रमयुतः।
मे प्राणोऽयुतो मेऽपानोऽयुतो मे व्यानोऽयुतोऽहं सर्वः॥

अथर्व० १९। ५१। १॥

(अहम्) मैं (अयुतः) अयुत हूं, (मे) मेरा (आत्मा) आत्मा (अयुतः) अयुत है, (मे) मेरी (चक्षुः) आंखें (अयुतम्) अयुत हैं, (मे) मेरे (श्रोत्रम्) कान (अयुतम्) अयुत हैं, (मे) मेरा (प्राणः) प्राण (अयुतः) अयुत है, (मे) मेरा (अपानः) अपान (अयुतः) अयुत है, (मे) मेरा (व्यानः) व्यान (अयुतः) अयुत है, (अहम्) मैं (अयुतः) अयुत हूं, (सर्वः) सर्वरूप हूं ॥ १०८ ॥

भावार्थः—(१) प्राण=नाक के छिद्रों द्वारा भीतर जाने वाला श्वास ।

(२) अपान=नाक के छिद्रों द्वारा बाहिर निकलने वाला प्रश्वास ।

(३) व्यान=सब शरीर में घूमने वाला वायु ।

(४) अयुत पद संख्यावाची है । अयुत दस हज़ार को कहते हैं । यथाः—"सहस्रं दशगुणितमयुतं भवति" यजु० भाष्य १७ । २ महीधर । परन्तु यहां अयुत पद असंख्यात अर्थ में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है ।

(५) उपरोक्त मन्त्र में अहं भाव के विस्तार का अथवा आत्म-दृष्टि के विस्तार का वर्णन है । इसी का नाम सम-दृष्टि भी है । समदृष्टि वाला मनुष्य यह समझने लगता

है कि मेरे अहं भाव की संकुचित सीमा हट गई है। मेरा विस्तार बहुत बड़ा हो गया है। मैं अयुत हो गया हूं। इन लाखों और करोड़ों नर-नारियों की आत्माएँ मेरी ही आत्मा हैं। इन सब के चक्षुः श्रोत्र में मेरी ही चक्षुः श्रोत्र हैं। इन सब के प्राण अपान और व्यान मेरे ही प्राण अपान और व्यान हैं। मैं अब अयुत हो गया हूं। ये सब अयुत मेरे ही रूप हैं। मैं अब एक क्षुद्र व्यक्ति रूप में नहीं रहा। मेरे भाव व्यापक हो गये हैं। सब का नुक्सान मेरा नुक्सान और सब का भला ही मेरा भला है। सम्पूर्ण समष्टि मिल कर मेरे लिये एक व्यक्ति है। मैं सर्व-रूप हूं। मानो सब प्राणी मिल कर मेरा एक देह है। इस प्रकार की आत्मदृष्टि होने पर मनुष्य अपने तुच्छ स्वार्थों के झोकों से डगमगाता नहीं। उस समय जगत् के सुख दुःख उस के अपने सुख-दुःख बन जाते हैं। जगत् का उपकार ही उस का उपकार बन जाता है। यही आत्मदृष्टि है।

जगत् भर के लिये कल्याणेच्छा

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः।
विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥

अथर्व० १।३१।४॥

(मात्रे) माता के लिये, (पित्रे) पिता के लिये, (उत) और (नः) हम सन्तानों के लिये (स्वस्ति) स्वास्थ्य (अस्तु) हो; (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये, और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) स्वास्थ्य हो। (नः) हमारा (विश्वम्) सब संसार (सुभूतम्) प्रभूत ऐश्वर्यसम्पन्न और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञानी (अस्तु) हो, (ज्योक्) चिरकाल तक (एव) ही (सूर्यम्) सूर्य को (दृशेम) हम देखें ॥ १०६ ॥

भावार्थः—इस मन्त्र में स्वार्थ-भाव की जड़ पर कुठाराघात किया गया है। मन्त्र में चित्त-वृत्तियों को शुद्ध तथा हृदय को विशाल करने का साधन बताया है। वास्तव में परार्थ-जीवन ही चित्त के मलों को दूर करता और हृदय को महान् बनाता है। हरेक बुरे कर्म की जड़ मनुष्य की इच्छाओं में रहती है। यदि अपनी इच्छाओं को शुद्ध करलिया जाय तो बुरे कर्म कभी भी नहीं हो सकते। इस मन्त्र द्वारा वेद शिक्षा देता है कि तुम अपने चित्तों में "दूसरों के लिये भला हो" ऐसी इच्छाएं पैदा करो। यदि तुम दूसरों का भला सोचोगे, उनका भला चाहोगे, तो उनके लिये भला करने वाले कामों में भी तुम अनायास प्रवृत्त हो सकोगे। मन जैसा सोचता है वैसी ही इच्छा करता है और जैसी इच्छा करता है काम भी उस से वैसे ही होते हैं। इसलिये यदि अपनी इच्छायें शुद्ध

वेश करली जायँ तो हमारे कार्य भी उसी प्रकार के शुद्ध, वेत्र हो सकते हैं।

मन्त्र में (१) माता के लिये (२) पिता के लिये) अपने लिये (४) गौओं अर्थात् पशुओं के लिये) पुरुषों तथा सम्पूर्ण जगत् के लिये स्वास्थ्य और ल्याण हो ऐसी इच्छा करने का उपदेश पाठकों को दिया है।

साथ ही पाठक चित्त में यह भावना भी करें कि क) सारा संसार ऐश्वर्यशाली तथा (ख) उत्तम ज्ञान-ला हो जाय। जगत् में पाठक आत्मबुद्धि भी करें। गत् को जब हम अपना कुटुम्ब जान लें तो जगत् की वृद्धि कर हमें प्रसन्नता होगी और हम ईर्ष्या-द्वेष की भट्टी में हीं जलेंगे। जगत् की वृद्धि देख कर हमारा आनन्द और ढ़ेगा। चूंकि जगत् हमारा एक परिवार बन गया है। यतः था को ही हम ने अपना कुटुम्ब मान लिया है।

मन्त्र के चौथे चरण में सब के दीर्घायुष्य और इन्द्रिय-क्तियों की चिर-स्थिरता के लिये प्रार्थना है।

॥ इति ॥

विक्रयार्थ पुस्तकें

दिक जीवन |||)
त्मिक उन्नति |)
ार्यविनोद |-)
होस्टल |)
क शिक्षाप्रद नाटक ≡)
ज्ञानसंचय विचार =)
ाहयज्ञविधान -)
श्रीपुष्करराजदर्शन)॥
धर्मशिक्षा)॥
ईशोपनिषद् का स्वरूप |=)
र्मविनोद =)
स्वानुभवसार =)
मनोरञ्जप्रकाश १||)
सत्यवती नाटक २)
वहमी भूत -)
अनुभूतचिकित्सासागर ६)
तुलनात्मक धर्मविचार १)
अवतार रहस्य |||)
समुद्रगुप्त ||=)
पोप की कथा ||)
पंजाब का भीषण-
नरहत्याकांड |||≡)

स्वदेशी और स्वराज्य |=)
गांधीदर्शन १)
आरोग्यरक्षा ||)
महात्मा गांधी ≡)
खादी का इतिहास ||=)
गांधीजी कौन हैं ||-)
भारत और अंग्रेज़ १||)
अकालियों का आदर्श
सत्याग्रह और उनकी
विजय ||)
भारतीय तरंग |)
आर्यसिद्धान्तपरिचय =)||
नवयुवको स्वाधीन बनो ||)
स्वतन्त्रता की झनकार ||)
मिस्टर व्युग्रेपट |)
भारतीय प्रजा |)
हिन्दूपति महाराणा
सांगा ... ... |||)
भारत की स्वाधीनता
का संदेश १|)
ब्रह्मयज्ञ |||)

महर्षि श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती

का

अजमेर के वयोवृद्ध आर्य्य महानुभाव

रावसाहिब श्री रामविलासजी शारदा

लिखित

आर्य्यधर्म्मेन्द्र जीवन

नामक सुप्रसिद्ध जीवनचरित्र का चतुर्थ संस्करण छपकर तय्यार होगया है। इस जीवन-वृत्तान्त की लेखशैली तथा भाषा बड़ी रोचक, सरल और भावपूर्ण है, इसी में

सुप्रसिद्ध आर्य्य विद्वान्

राज्यरत्न श्री मास्टर आत्मारामजी अमृतसरी

का लिखा हुआ मार्मिक, गवेषणापूर्ण तथा गम्भीर उपोद्घात भी है। यह संस्करण कई वर्षों की प्रतीक्षा के पश्चात् छपा है। एतदर्थ जल्दी ही मंगा लीजिये अन्यथा न मिल सकेगा। मूल्य १॥)

मिलने का पता—

मैनेजर—महेश पुस्तकालय, अजमेर.